सहजानंद शास्त्रमाला

बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रम् प्रवचन

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्यवर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक **'अध्यात्म सहस्री'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्रीमनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थको पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे । इसी ग्रन्थ की PDF फाइल www.jainkosh.org पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर** एवं प्रूफिंग करने हेतु श्री **सुरेशजी पांड्या, इन्दौर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone:94066-82889

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

Contents

बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रम् प्रवचन

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री १०५ क्षु॰ मनोहर जी वर्णी

सहजानन्द महाराज

(१) श्री वृषभजिनस्तवनम्

(वंशस्थछन्द:)

छन्द १

स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले समञ्जसज्ञानविभूतिचक्षुषा ।
विराजितं येन विधुन्वता तम: क्षपाकरेणेवगुणोत्करै:करै: ।।१।।

अन्वयार्थ—(स्वयंभुवा) जो स्वयंभू थे—दूसरे के उपदेश के बिना मोक्षमार्ग को जानकर तथा उस रूप आचरण कर अनन्तचतुष्टयस्वरूप हुए थे, **(भूतहितेन)** प्राणियों के लिये हितकारक थे, **(समञ्जसज्ञानविभूतिचक्षुषा)** सम्यग्ज्ञान की विभूतिरूप नेत्र से युक्त थे और **(गुणौत्करै: करै:)** स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति में कारणभूत गुणों के समूह से युक्त वचनों के द्वारा **(तम:)** ज्ञानावरणादि कर्मरूप अज्ञान को **(विधुन्वता)** नष्ट करते हुए **(येन)** जो **(भूतले)** पृथ्वीतल पर **(गुणौत्करै: करै:)** अर्थ प्रकाशकत्व आदि गुणों से युक्त किरणों के द्वारा **(तम:)** अन्धकार को **(विधुन्वता)** नष्ट करते हुए **(क्षपाकरेणेव)** चन्द्रमा के समान **(विराजितम्)** सुशोभित होते थे ।।१।।

वृषभदेव की स्वयंभूता—इसका नाम स्वयम्भू स्तोत्र इस कारण रखा है कि इस स्तवन के आदि में 'स्वयंभुवा' शब्द आया है । जैसे भक्तामर स्तोत्र का सही नाम है—आदिनाथ स्तोत्र मगर भक्तामर नाम से इस कारण प्रसिद्ध है कि इसके आदि में भक्तामर शब्द आया है । तो स्वयंभू स्तोत्र में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की है । समन्तभद्राचार्य ने यह स्तवन उस समय बनाया था जब कि उन पर एक उपसर्ग और आया, वह उपसर्ग निवारण उन्होंने खुद किया । गुरुआज्ञा से मुनिधर्म छोड़कर संन्यास के ढंग में रहकर उन्होंने भस्मव्याधि मिटायी । जब राजा को पता पड़ा तो उन्होंने कहा कि तुम को इस पिंडी को नमस्कार करना पड़ेगा । इतनी वेदना में रहकर भी समन्तभद्रस्वामी आस्था में परिपक्व थे । उन्होंने कहा कि आप इतना कठिन आदेश मत दो अन्यथा हमारे नमस्कार को सहन करना कठिन हो जायेगा । राजा ने कहा—नहीं, करना ही पड़ेगा । उस रात्रि में उन्होंने एक स्वयंभूस्तोत्र रचा था । इस स्तोत्र में दार्शनिकता की मुख्यता है । एकान्तवाद का निरसन, अनेकान्त का समर्थन करते हुए भगवान की स्तुति की है और जब ७ तीर्थंकरों की स्तुति तक तो गुणानुवाद किया, वहाँ तक तो नमस्कार का कोई शब्द नहीं कहा । यद्यपि नमस्कार का शब्द न भी कहे और गुणानुवाद हो तो वह भी नमस्कार कहलाता है लेकिन शब्द से नमस्कार करने के साथ अंग भी झुका करते हैं, जैसे जब कोई हिंदी का

स्तवन पढ़ता है तो पढ़ता जाता है और जिस वक्त आता है मैं नमस्कार करूँ हूँ, वंदना करूँ हूँ, उस समय शीश झुक जाता है, तो शब्द के साथ अंग भी झुकता है, तो गुणानुवाद रूप में ७ तीर्थंकरों का स्तवन है और नमस्कार शब्द लाकर चंद्रप्रभ की स्तुति का प्रसंग है । बना तो लिया सब और एक ही बार बनाने के बाद बड़ी धारणा हो जाती है । अब जब दोपहर के समय स्तवन कर रहे थे और चन्द्रप्रभ भगवान के स्तवन में जहाँ वंदे शब्द आया और वन्दे के साथ शीश झुकाया तो वहाँ चन्द्रप्रभ भगवान की मूर्ति प्रकट हुई । उस चतुर्विंशति तीर्थंकर स्तुति का यह पहला छन्द है । प्रभु आदिनाथ भगवान जो स्वयंभू के रूप में विराजमान हैं—स्वयंभू कहते हैं उसे जो **'स्वयं भवति-इति स्वयंभू ।'** जो पर-निरपेक्ष होकर बिना दूसरे का सहारा लिए स्वयं अपने-आप होवे उसे कहते हैं—स्वयंभू । तो प्रभु ! आप स्वयंभू हैं । जो स्तवन एक तीर्थंकर का है वही स्तवन सब तीर्थंकरों का है, क्योंकि गुण सबके समान हैं । हाँ, कोई चारित्रसम्बन्धी घटना लाकर स्तवन करे तो वह अलग बात है । प्रभु ! आप स्वयंभू हैं । प्रभु क्या हैं? एक ज्ञानपुञ्ज, शुद्ध ज्ञान । वह कैसे हुआ? स्वयं हुआ? जो चरणानुयोग का प्रयोग चलता है वह प्रयोग स्वभाव बनाने के लिए नहीं चलता किन्तु स्वभाव पर विकार आया हो परिणमन में, उस विकार को हटाने की नीयत से पुरुषार्थ चलता है । चीज तो स्वयं में है ही । तो जो एक चारित्र का पौरुष है या और-और जो-जो कुछ हमारा अभ्यास है वह विकार को हटाने के लिए है, स्वभाव बनाने के लिए नहीं है । वस्तु का स्वरूप बनाया नहीं जा सकता । वह तो सत्त्व के साथ जुड़ा है, नहीं तो उसका सत्त्व भी नहीं । स्वभाव बिना बनाये है तो बिना बनाये स्वभाव है । वही स्वभाव प्रकट हो जाये उसको कहते हैं परमात्मा । तो ऐसा परमात्मापन स्वयं हुआ है और अन्त:पौरुष में क्या किया गया है कि स्वभाव की उपासना की सो स्वभाव का विकास हुआ ।

स्वयंभू होने के उपाय की स्वाश्रितता—समस्त कार्यों से सरल काम है । परमात्मा होना, संसार में इतना रुलना, चलना, देह धारण करना, अनेक संघर्ष करना—ये तो सारे कठिन काम हैं और पराधीन हैं, किन्तु परमात्मत्व की प्राप्ति करना स्वाधीन है, सहज है, निरपेक्ष है, असहाय है । उसमें उपादान की तैयारी हो, इतनी भर आवश्यकता है । सो यह तैयारी भी ज्ञान द्वारा, ज्ञान में, ज्ञान से ही की जाती है । इसे भी कोई करने नहीं आता । तब किस तरह से परमात्मत्व प्रकट होता है ? कि अपना जो अनादि अनन्त अहेतुक स्वभाव है उस स्वभाव का आश्रय करके जो एक विशुद्ध ज्ञान-परिणमन का प्रवेश होता है उस पर्यायरूप से परिणम जाने का ही नाम परमात्मा होना है । उसका उपाय है—स्वभाव का आश्रय करना । आश्रय करने का अर्थ है—स्वभाव को ज्ञान में रखना, उपयोग में लेना । मैं सबसे निराला विशुद्ध चैतन्यमात्र हूँ, ऐसा प्रतीति में बना रहना । कैसा है वह स्वभाव? अनादि, जिसका आदि नहीं । मेरा आदि नहीं, स्वरूप का भी आदि नहीं । मैं पहले बना होऊ, स्वभाव पीछे बना हो तो स्वभाव के बिना मैं क्या था? मैं अनादि, स्वभाव अनादि; मैं अनन्त, स्वभाव अनन्त; मैं अहेतुक, स्वभाव अहेतुक । मुझ में और स्वभाव में अन्तर नहीं और ये दो चीजें भी नहीं । वस्तु एक अखण्ड है । समझाने के लिए स्वभाव और स्वभाववान का भेद किया जाता है । ऐसा जो निज सहज अहेतुक स्वभाव है उस स्वभाव का आश्रय करना मोक्ष का मार्ग है । तो ऐसा स्वभावाश्रय करके प्रभु ! आप स्वयंभू हुए हैं ।

स्वयंभू वृषभदेव की भूतहितरूपता—जो स्वयं निरपेक्ष, सहज, स्वयंभू हुआ है वही तो भूतल पर प्राणियों का हित करने वाला होता है । जो हित करने की धुन रखता है वह दूसरे के हित का पूर्ण निमित्त नहीं बन पाता और जो प्राणियों के हित करने की धुन तो नहीं रखता लेकिन स्वयं निर्मल प्रकट हो जाता है तो उसका दर्शन, उसका वचन, उसकी मुद्रा—ये सब कुछ प्राणियों के हित के लिए बन जाते हैं । 'पद्म पुराण' में वज्रबाहु का वृत्तान्त है कि वह स्त्री पर इतना मोहित था कि जब स्त्री अपने मायके चली तो वह भी साथ चल पड़ा । उसके साथ उसका साला उदयसुन्दर भी था । ये तीनों एक साथ जा रहे थे, रास्ते में किसी जगह एक मुनिराज के दर्शन हुए । वह मुनिराज अपने आत्मा के आनन्दरस में छक रहे थे । जो विशुद्ध आत्मीय आनन्दरस में छकता हो उसकी मुद्रा अलौकिक अद्‌भुत होती है । जो ज्यादह तेज हँसते हैं उनकी वह हसी आकुलता का सूचक है और जो आत्मीय आनन्दरस में छक रहा हो तो उसकी तो एक मंद मुस्कान होती है, जो अलौकिक है, जो किसी भी इन्द्रिय के विषय का मौज लेते समय बन ही नहीं सकती । ऐसे आनन्दरस में छक रहे मुनिराज की मुद्रा को निरखकर उस वज्रबाहु का सारा भ्रम नष्ट हो गया । मैं हित कहाँ ढूंढ़ रहा हू? हित तो यहाँ है, शान्ति तो यहाँ है । देखो, आनन्द कैसा इनकी मुद्रा से प्रकट हो रहा है? सुख देखने को मैं यत्रतत्र डोलता हूँ, उचित-अनुचित कदम उठाता हूँ । तो शान्ति तो, यहाँ खुद में है जिसका कि यह इतना आनन्दरस पान कर रहे हैं । भ्रम दूर हुआ कि टकटकी लगाकर मुनिराज को देखने लगा । आखिर आगे साले ने कुछ मजाक किया—क्या मुनि बनोगे? उसको वह उपाय मिल गया । सुविधा मिली पिंड छुड़ाने की । हां-हां मुनि बनेंगे तो क्या तुम भी बन जावोगे? उदयसुन्दर ने अनहोनी बात सुनकर कहा—हां हम भी बन जायेंगे । बस, वज्रबाहु मूनि हो गया । उसका मोह गला जानकर उदयसुन्दर का मोह भी गल गया, वह भी साधु हो गया । इन दोनों का मोह गलित देखकर उस स्त्री का भी मोह गल गया । वे सब साधु हो गए । तो जिसने आत्मीय आनन्द का रस चखा है, जिसकी दृष्टि निजस्वभाव पर पहुंची रहती है ऐसे पुरुष का सत्संग दर्शन भी पार कर देता है । प्रभु स्वयंभू हो गए इस कारण वे स्वयं ही इस भूतल पर प्राणियों के हितरूप हुए हैं ।

स्वयंभूप्रभु की सम्यग्ज्ञानचक्षुष्कता एवं अज्ञानान्धविनाशकता—कैसा है वह विराजमान ऋषभदेव का आत्मा ? परमात्मस्वरूप कि जो निर्मल ज्ञानचक्षु से सहित विराजमान है । समंजस क्या है ? जिसमें विवाद नहीं है, जिसमें कोई दोष नहीं है ऐसा निर्मल सम्यग्ज्ञान ही नेत्र है जिसका, उससे विराजमान हैं । तीन नेत्र के धारी ये महादेव हैं, देवों में महादेव चार घातिया कर्मों का विनाश करने वाले, युग के आदि में सर्वप्राणियों के लिए एक सहारेभूत हुए । उन प्रभु ने तीसरा नेत्र केवलज्ञान पाया था इसलिए त्रिनेत्र कहलाये । 'सहस्रनाम' के पाठ में भगवान को त्रिनेत्र कहा है । तो ऐसे समंजस ज्ञानरूप चक्षु से सहित जो विराजमान हैं ऐसे प्रभु का यहाँ स्मरण किया जा रहा है । जिसने मोह-अंधकार का ऐसा विनाश किया जैसे कि रात्रि के अंधकार को पूर्णचन्द्र विनाश कर देता है, जिसकी किरणें गुणोत्कर हैं, सर्व जीवों को शान्ति देने वाली हैं । ऐसे गुणों में उत्कृष्ट जिसकी किरणें प्रकट हुई हैं, जिन्होंने मोह का मर्दन कर दिया है, ऐसे आदिनाथ प्रभु, उनके गुणों का स्मरण इस छंद में किया जा रहा है ।

छन्द २

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीवषूः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।

प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ।।२।।

अन्वयार्थ—(यः प्रजापतिः 'बभूव') जो तीन लोक की समस्त जनता के स्वामी थे । जिन्होंने **(प्रथमं)** कर्मभूमि के प्रारंभ में **(प्रबुद्धतत्वः)** मति, श्रुत और अवधिज्ञान के द्वारा लोगों के कर्म तथा उनके फलों को जानकर **(जिजीविषुः प्रजाः)** जीवित रहने की इच्छुक जनता को **(कृष्यादिषु कर्मसु)** खेती आदि आजीविका के उपयोगी छह कार्यों में **(शशास)** शिक्षित किया था और **(पुनः)** फिर **(प्रबुद्धतत्वः)** हेय—उपादेय तत्त्व को अच्छी तरह जानकर **(अद्भुतोदयः)** इन्द्र आदि के द्वारा की हुई आश्चर्यकारी विशिष्ट विभूति को प्राप्त हुए जो **(ममत्वतः)** ममता भाव से—परिग्रह—विषयक आसक्ति से **(निर्विविदे)** विरक्त हो गये थे तथा इन सब कारणों से जो **(विदांवरः)** श्रेष्ठ ज्ञानी हुए थे ।।२।।

जिन भगवान ने युग के आदि में जब कि भोगभूमि नष्ट हो रही थी, कर्मभूमि का प्रारम्भ था उस समय सब लोग उनके समक्ष विराजमान हो गए । उस समय ये ऋषभदेव ही सहारे थे । ये १४वें कुलकर के पुत्र हैं । मनुवों को और लोग भी मानते हैं । जैनसिद्धान्त में १४ मनु हुए हैं । १४वें मनु नाभिराजा थे और नाभिराजा के समय गड़बड़ी हुई तो प्रजा जनों ने नाभिराजा से निवेदन किया । वहाँ नाभिराजा ने प्रजाजनों को ऋषभदेव के पास भेजा तो ऋषभदेव ने प्रजाजनों को षट्कर्मों की व्यवस्था बतायी । जो पहरेदारी करे, शस्त्र से जीवों की रक्षा करे, दुष्टों के दुराग्रह न बढ़ने दे, सब जीवों को अभयदान दे ऐसे जीव असी जीविका करें । सबकी जरूरत थी । लेखन की भी जरूरत पड़ी, क्योंकि भोगभूमि नष्ट हो गई । व्यापार होना चाहिए, लेनदेन लेखा-जोखा रहना चाहिए । पढ़ना-पढ़ाना बनना चाहिए । तो मसी आजीविका वाले निर्धारित किये जैसे मुनीम हैं, मास्टर हैं । खेती भी चाहिए । खेती तो एक मुख्य ही चीज है, सो कृषि वाले, वाणिज्य वाले, शिल्पकला वाले, इन सबकी आज भी तो वही व्यवस्था है । बढ़ई, सुनार, लुहार, कुम्हार, चित्रकार आदि ये सब शिल्पकला वाले हैं, सेवा वाले हैं । ऐसी षट्कर्मों की व्यवस्था को इसी कारण ऋषभदेव को ही ब्रह्मा कहते हैं । जो कोई भी ब्रह्मा कहता है तो भले ही लक्ष्य से चाहे चूक गए हो, पर आदिनाथ प्रभु के लिए ब्रह्मा की उपाधि थी । ये कैलासपति हैं । कैलास उनका निवास **(निर्वाणस्थल)** था । देवाधिदेव महादेव, आत्मसुख को करने से शंकर हैं । ये प्रभु ने युग के आदि में जो कुछ बताया वह सब सृष्टि के माफिक था, जो-जो उपाय बताया सो कहते हैं । नई दुनिया बनायी, सृष्टि रची, ब्रह्मा ने । कुछ न था और बनाया हो सो बात नहीं, पर लोग भूले-भटके थे, सरल थे, किंकर्तव्यविमूढ़ थे, तो उन्होंने वह सब मार्ग बताया, इस कारण से वे सृष्टिकर्ता कहलाये । वस्तुस्वरूप की दृष्टि से कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ का कुछ करता नहीं है, इसलिए प्रत्येक पदार्थ स्वयंसिद्ध है । कोई किसी की सृष्टि नहीं करता, लेकिन एक व्यवहारदृष्टि से जब कि भोगभूमि नष्ट होने से लोग घबरा गए थे तो उनको मार्ग में लगाया, उन प्रजाओं को कृषि आदिक कार्यों में लगाया, इसलिए वे प्रजापति कहलाये ।

श्री ऋषभदेव की प्रबुद्धतत्त्वता—ये ऋषभदेव प्रजा का जीवनोपकार कर कुछ समय बाद प्रभु बने, तो प्रभु बने

तो प्रबुद्धतत्त्व बने । खुद तत्त्व को जाना और दूसरों को मोक्ष का मार्ग बताया । जैसे समझो किसी के बचपन का कोई मित्र अपने बचपन में, जवानी में, अनेक प्रकार से मददगार बनता और पीछे विरक्त हो जाये तो वैराग्यमार्ग में लगाकर मददगार बनता, ऐसे ही ऋषभदेव प्रभु का प्रजा से लौकिक-अलौकिक सब प्रकार से सम्बंध रहा, तो यह ऋषभदेव प्रारम्भ से ही समस्त मानवों के उपासनीय थे । कोई महादेव के रूप में, कोई ब्रह्मा के रूप में, कोई शंकर के रूप में, कोई विष्णु के रूप में ऋषभदेव को मानते चले आये । कोई आदिम बाबा मानते थे । जो सबसे पहले हो, आदि में उसे आदिम कहते हैं । चौबीस तीर्थंकरों में सबसे पहिले यह हुए । तो ऐसे ऋषभदेव भगवान हैं । प्रजा का शासन करके फिर अद्भुत उदय वाले बने, ऐसी वीतराग अवस्था में आये कि अब न किसी से बोलते हैं, न सम्पर्क है, दिव्यध्वनि खिरती है तो वह एक साधारणतया खिरती है, किसी से बातचीत करते हुए नहीं खिरती । भव्य जीवों के भाग्य से, प्रभु के वचनयोग से दिव्यध्वनि खिरती है । इतने निरपेक्ष विशुद्ध आत्मा शरीर में हो गए । और इस समय तो शरीररहित हैं, सिद्ध अवस्था है, पर सशरीर भगवान अरहंत ऋषभदेव जिन्होंने करोड़ों वर्षों तक अरहंत रहकर धर्मोपदेश दिया था, ऐसे ऋषभदेव भगवान के गुणों का स्तवन यहाँ समन्तभद्राचार्य कर रहे हैं । स्तवन में लाभ इस दृष्टि से, इस नाते से होता है कि प्रभु के गुणों की जो अवस्था है, उनका जो स्वरूप है उस स्वरूप के प्रति ऐसी आस्था हो कि वह स्वरूप कहीं बाहर से नहीं आया, वह स्वयं ही अनादि सिद्ध है, उसको ढकने वाले विषय-कषाय के भाव हैं । विषय, तृष्णा, इच्छा—ये भाव-विभाव दूर हों तो उनका परिपूर्ण विशुद्ध स्वभाव स्वयं प्रकट हो जाता है । ऐसे इस स्तवन का प्रारम्भ स्वयंभू शब्द से किया है और इस स्तुति का या किसी स्तुति का प्रथम छन्द की शुरूआत 'स' शब्द से आये तो वह छन्द शास्त्र के जानने वालों में वह विदित होता है और वह मंगली छंद कहलाता है, इसे कहते हैं अत्यन्त शुभ । इसी प्रकार कुछ शब्द हैं ऐसे जिनका आदि से शब्द बने तो वह बड़ा मंगलरूप माना जाता है । उनमें से 'स' शब्द बहुत ही शुभ शब्द माना गया है, उस 'स' शब्द से इस स्तवन का प्रारम्भ हुआ ।

छन्द ३

विहाय यः सागरवारिवाससं वधूमिवेमां वसुसावधूँ सतीम् ।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ।।३।।

अन्वयार्थ—(यः) जो **(मुमुक्षुः)** मोक्ष के अभिलाषी अथवा संसार-समुद्र से पार उतरने के इच्छुक थे, **(आत्मवान्)** जितेन्द्रिय थे, **(प्रभुः)** सामर्थ्यवान् अथवा स्वतन्त्र थे, **(सहिष्णु)** परीषह आदि की बाधाओं को सहन करने वाले थे, **(इक्ष्वाकुकुलादिः)** इक्ष्वाकुकुल अथवा समस्त राजवंशों में आदि पुरुष थे और जिन्होंने **(सतीम्)** किसी अन्य राजा के द्वारा अमुक्त होने से पतिव्रता **(इमाम्)** इस **(सागरवारिवाससम्)** समुद्र के जलरूप वस्त्र को धारण करने वाली—समुद्रान्त, **(वसुधावधूम्)** धनधान्य से परिपूर्ण पृथ्वीरूपी स्त्री को **(सतीं वधूमिव)** पतिव्रता स्त्री के समान **(विहाय)** छोड़कर **(प्रवव्राज)** दीक्षा धारण की थी ।

श्री ऋषभदेव का आदर्श त्याग—प्रभु ऋषभदेव राज्य छोड़कर दीक्षा को चले गए, यह बात इस तीसरे छंद में कही गई है । पृथ्वी को छोड़कर गए । कितनी पृथ्वी थी उनके राज्य में? और उस समय उनके प्रतिपक्ष में कोई राजा न था । एक छत्र राज्यसा समझिये । चक्रवर्ती भी जिसके दास रहते हो । तीर्थंकर के समय में कोई राज्य नहीं हुआ करता । एकछत्र राज्य होता है । तो इसका वर्णन किया है कि ऐसी वसुधा-वधू को छोड़कर गए । वसुधा कहते हैं पृथ्वी को और वधू मायने स्त्री । सती-पूछी को छोड़कर गए । सती उसे कहते हैं जो दूसरा मालिक न रखता हो । जिसका एक ही मालिक हो उसे सती कहते हैं । तो प्रभु ऋषभदेव इस सती पृथ्वी को छोड़कर गए । अलंकार रूप में यह जाहिर हुआ कि उस समय उस पृथ्वी का मालिक कोई दूसरा न था । कैसी वह पृथ्वी थी, कैसी वह वसुधा-वधू थी कि समुद्र का जल ही जिसका वस्त्र था, यह पृथ्वी नंगी न थी । इस सती वसुधा ने इतनी लम्बी साड़ी पहन रखी थी कि चारों तरफ का जो जल है वही इसका वस्त्र था । तो समुद्र का जल ही जिसका वस्त्र है उस वस्त्र को धारण करने वाली इस वसुधा-वधू को यों छोड़कर गए जैसे कि वक्ष को छोड़कर गए । उपमालंकार इस ढंग से दिया कि दोनों ही बातें उद्देश्य-विधेय में आ जाती हैं । याने घर को भी छोड़ा, पत्नी को भी छोड़ा, पृथ्वी को भी छोड़ा और छोड़ करके यह इच्छ्वाकुवंश के आदि पुरुष मुमुक्षु की तरह बड़े सहनशील अपने किए हुए संकल्प से च्युत न होने वाले, बस ये प्रभु चले गए, दीक्षा धारण की । समंतभद्राचार्य के एक-एक शब्द से कई-कई रहस्य ध्वनित होते हैं । प्रभु अच्युत थे, अपने संकल्प से च्युत न होने वाले । यह शब्द यह जाहिर करता है कि उनके साथ हजारों राजाओं ने दीक्षा ली थी मगर अनेक राजा भ्रष्ट हो गए थे । उनका तो वर्णन छंद में नहीं है । वर्णन करने का प्रयोजन क्या पड़ा? प्रभु आदिदेव की स्तुति हो रही है । उनमें अन्य के दोष वर्णन करने से स्तवन की प्रशंसा नहीं होती, लेकिन जो घटना है वह किन्हीं न किन्हीं शब्दों में ध्वनित हो जाती है ।

श्री ऋषभदेव की अच्युतता व सहिष्णुता—प्रभु अच्युत थे, सहिष्णु थे । इन दोनों शब्दों से यह ध्वनित हो जाता है कि अनेक राजा च्युत हो गए, क्योंकि वे सहिष्णु न थे । सहनशीलता मनुष्य का अद्‌भुत गुण है । जो सहनशील नहीं है, किसी की बात सुन-सुनकर चित्त में क्षोभ आ जाता है, कोई थोड़ा कष्ट उपद्रव उपसर्ग आया तो उस समय वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है । वह पुरुष अपनी क्या प्रगति कर सकता है ? लौकिक पुरुष, अलौकिक पुरुष, उनमें जो-जो भी महान हुए हैं, उनमें एक यह गुण था कि वे सहिष्णु थे । अपने किए गए इरादे से च्युत नहीं हुए । तो ऐसे अच्युत सहिष्णु ऋषभदेव भगवान जो आत्मावान थे याने जिनका आत्मा, परमात्मा, जिनका ज्ञान सर्वस्व सदा दृष्टि में रहता था । वह कौन-सा बल है, जिसके बल पर राज्य छोड़ा जाये, परिजन छोड़े जाये, दिगम्बर रहा जाये, जंगल में बसा जाये ? क्योंकि लोकदृष्टि में ये सब बातें बड़ी दुर्भाग्य जैसी मानी जाती हैं । इसके कोई न रहा, अकेला रह गया, बेचारे का कोई साथी नहीं । कुछ इसके पास ही नहीं, ऐसी दशा को अंगीकार करे और प्रसन्न रहे और ऐसी प्रगति से चले कि बड़े-बड़े मनुष्यों के इन्द्र, देवों के इन्द्र भी चरणों में नमस्कार करें, वह कौनसा बल था, कौन-सी कला थी, जिस कला पर ये सारे उपद्रव भी सह लिए गए और उनका चित्त प्रसन्न रहा? उस कला को ही उद्योतित करता है यह आत्मावान । वह स्वदयालु थे, परदयालु थे । लोग कहते हैं कि इनके हृदय है कहाँ? यह है हृदयवान । तो हृदयवान से बढ़कर शब्द है

आत्मावान । सर्व जीवों को अपनी तरह स्वरूप से देखें वह आत्मावान है । अपने आपके सहज चैतन्यस्वरूपमय आत्मा को निरन्तर प्रतीति में रखे वह है आत्मावान । प्रभु मुमुक्षु थे । मोक्ष की इनके आकांक्षा थी । संसार के जन्ममरण संकट— ये इनको रुचिकर न थे । ऐसे आत्मावान प्रभु जिन्होंने गृहस्थावस्था में प्रजा का साथ दिया, उनको संभाला, विचित्र युग-परिवर्तन में ये सबके आलंबन रहे और अब आत्मोद्धार चाहने वाले पुरुषों के लिए आलम्बन बन गये । ऐसे यह सहिष्णु अच्युत आत्मावान प्रभु प्रव्रज्या में चले गये । एक ही धातु में जो चलने वाली धातु हैं गमन अर्थ वाली, उनमें यह धातु रखने का प्रयोजन यह है कि प्रव्रज्या के लिए चले गए । गमन अर्थ वाली करीब ७०-८० धातुवें हैं, जिनका अर्थ है सिर्फ जाना, मगर गत्यर्थक धातुवों का जानना अर्थ है । जाना में भी भेद करके ७०-८० प्रकार हो जाते हैं । कोई प्रयोजन भेद से जाना । जाने की कला में अन्तर रहता है, ऐसा यह प्रव्रज्या शब्द रखा । प्र धातु का प्रयोग किया । जिसका अर्थ होता है बहुत सुन्दर कार्य के लिए । प्रव्रज्या के लिए गमन किया । किन्हीं में चलना, जाना, भगना, मटकना आदिक अनेक गत्यर्थक धातु होती हैं । जैसे हिन्दी में खाने के लिए कई प्रयोग होते खाना, जीमना, गुटकना, ठूसना आदिक, पर सबके भिन्न-भिन्न आशय हैं । कोई प्रयोजन का आशय रखता; कोई सम्मान, आदर सत्कार का आशय रखता । तो यहाँ प्रभु प्रज्व्रया, ऐसे ही शब्द रखा है—'चत्तारि सरणं पव्वज्जामि', मैं चार की शरण को पाता हूँ, अर्थ तो यह है मगर पाना किस ढंग का । किन कलाओं वाला, किन विधियों से? एक ही धातु में कला, विधि, तरकीब सब एक साथ गर्भित हो जाते हैं । जैसे अरहंत सिद्ध प्रभु बने, जैसे साधुजन मार्ग पर चल रहे हैं उस तरह का चित्र बनाकर उस तरह की भावना रखता हुआ मैं शरण को प्राप्त होता हूँ । शब्द एक है मगर उसमें भाव अनेक और बहुत भरे हुए हैं । तो यों प्रभु पृथ्वी को छोड़कर दीक्षा को गए । कहना तो इतना था, मगर अनेक विशेषणों से अनेक बातें जाहिर करके आत्मप्रभु की इस विशेषता को दर्शाया है ।

छन्द ४

स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम् ।

जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः ।।४।।

अन्वयार्थ—(यः) जिन्होंने **(स्वदोषमूलम्)** अपने काम-क्रोध आदि समस्त दोषों के मूल कारण—चार घातिया कर्मों को **(स्वसमाधितेजसा)** परमशुक्लध्यानरूपी अग्नि के द्वारा **(निर्दयभस्मसात्क्रियां निनाय)** निर्दयतापूर्वक भस्मभाव को प्राप्त कराया है—समूल नष्ट कर दिया तथा जिन्होंने **(अर्थिने जगते)** तत्त्वज्ञान के अभिलाषी प्राणिसमूह के लिये **(अञ्जसा)** वास्तविक **(तत्त्वं)** जीवादि तत्त्वों का स्वरूप **(जगाद)** कहा **(च)** और अन्त में जो **(ब्रह्मपदामृतेश्वरः)** मोक्षस्थान के अविनाशी-अनन्त सुख के स्वामी **(बभूव)** हुए ।

समाधिबल से दोषों का प्रभु द्वारा भस्मसात्कार—भगवान ऋषभदेव ने अपनी समाधिरूपी अग्नि से **(तेज से)** दोषों की जड़ को निर्दयता के साथ भस्मसात्-क्रिया को पहुंचा दिया । बात यहाँ कही जा रही है कि दोषों की जड़ है मोह, रागद्वेष । इसको मूल से भस्म कर दिया, पर किन शब्दों में कहा जा रहा? अपनी समाधि के तेज

के द्वारा अपने दोषमल को निर्दयतासहित भस्मसात्-क्रिया को पहुंचा दिया । वे सब भस्म हो गए । भस्म कर दिया, इन शब्दों में क्यों नहीं कहा कि एकदम कर्तृत्व का आशय न आ जाये । एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ करता नहीं है, वे स्वयं भस्म हो गए । उन्होंने भस्म होने की क्रिया को पाया निर्दयता पूर्ण । जैसे कि जड़ से नष्ट करने वाला पुरुष मानो निर्दय होकर भस्म करता है ऐसे समाधि-तेज के द्वारा, निर्दयता के द्वारा भस्म किया । यहाँ एक बड़ी ऊँची दया बसी हुई है और उस उत्कृष्ट दया को सिद्ध करने के लिए निर्दयता शब्द दिया है, स्वदया-परदया । कर्मों का तो बिगड़ता क्या है? कार्मणवर्गणा कर्मरूप न रही, मात्र कर्मवर्गणारूप रही तो उनका बिगड़ता क्या है? बल्कि एक भला ही हुआ कि वे भी विकार से बच गयीं । तो कार्मणवर्गणाएं भी ठीक हो गयी, खुद भी ठीक हो गए और ऐसा ठीक हो जाने के कारण ही वे जगत् के जीवों को सही उपदेश दे सके । कितनी ऊँची दया बसी हुई है, जिस उत्कृष्ट दया को बताने के लिए निर्दय शब्द का प्रयोग किया । ये सब किस तरह भस्मसात होते हैं? उसका उपाय है— समाधि-तेज । समाधि उसे कहते हैं जहाँ आधि, व्याधि, उपाधि; ये सब शान्त हो जाते हैं । आधि तो मानसिक है, व्याधि शारीरिक है और उपाधि सभी प्रकार की है, जिसमें एक समझ लो वाचनिक । आधि कहते हैं मानसिक दुःख को और व्याधि कहते हैं विशेष व्याधि को, क्योंकि शरीर का इस जीव के साथ अन्य पदार्थों की अपेक्षा विशेष सम्बंध है । शरीर में रोग हो तो कोई उत्कृष्ट भेदविज्ञानी शरीर की याद न करे और एक आत्मा आत्मा का ही याद रहे, ऐसा तो कोई विशिष्ट ज्ञानी ही होगा । इस शरीर में एक क्षेत्रावगाह है, और उपाधि कहते हैं उप+आधि, उप मायने समीप और आधि मायने मानसिक दुःख, जो मानसिक दु:खों के पास ले जाये उसका नाम है उपाधि । आज इतने पढ़े-लिखे लोगों को आज के बाद मानसिक दु,ख में पटका जायेगा, इसका उत्सव मनाया जा रहा है । जिसे कहते हैं दीक्षान्त समारोह । तो आज के इस दीक्षान्त समारोह का अर्थ है कि आज से यह मानसिक दुःख में प्रगति करेगा उसका उत्सव है । तो ये समस्त उपाधियां ये सब कष्ट करने वाली हैं, वे जहाँ शान्त हो जायें ऐसा परिणाम । जिस परिणाम में केवल ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्व ही ज्ञान में रहता हो उस वृत्ति का इतना उत्कृष्ट तेज होता है कि विकार ये सब भस्म हो जाते हैं । यह करके अनुभवने की चीज है । अपने ज्ञान को ऐसा विशुद्ध और तीक्ष्ण दृष्टि का बनायें कि जहाँ यह स्वयं ज्ञान ही ज्ञान में रहे, अन्य विकल्प सब शान्त हो जायें, ऐसी अलौकिक स्थिति ही कर्मों को नष्ट करने में समर्थ होती है ।

श्री ऋषभदेव की ब्रह्मपदेश्वरता—भैया ! धर्म के नाम पर चाहते तो हैं सब कि मेरा अच्छा भविष्य बने, कर्म टल जाये, जन्ममरण दूर हो जाये, पर इसका उपाय अन्य कुछ नहीं है । अन्य जो उपाय बनाये जाते हैं वे मूल उपाय के काबिल बनाने के लिए बनाये जाते हैं । वे स्वयं कर्म को भस्म करने के उपाय नहीं हैं । और कर्मों को भस्म करने के उपाय का प्रयोग कर सके, उसकी तैयारी के उपाय हैं—शेष जितने भी धार्मिक कार्य हैं । धर्म तो एक ही है—ज्ञानदृष्टि, स्वभावदृष्टि; अन्य तो सब इस उपाय के उपाय हैं । कर्मविनाश के उपाय नहीं हैं । जैसे दीक्षा ली, साधु बने, व्रत करे, प्रतिमा ले, उपवास है, तपश्चरण है, तो ये सब कर्मों के नाश के उपाय बनाने के उपाय हैं । कर्मनाश का उपाय तो एक चैतन्यस्वभाव का अनुभव करना है, स्वानुभव । निर्विकल्प दशा ही कर्मों के नाश का उपाय है । सो प्रभु ने अपनी समाधिरूपी तेज के द्वारा अपने दोष-मूल को निर्दयता से

भस्मसात्क्रिया को पहुंचा दिया और फिर इस उपाय के लिए जो कि अर्थी है याने आत्मोद्धार चाहने वाला है ऐसे भव्यसमूह के लिए तत्त्व को बोला । 'तत्त्वं जगाद् ।' गद् धातु का प्रयोग किया है । बोलना, कहना, भाषण करना आदिक अनेक शब्द होते हैं, मगर गत् धातु का अर्थ है—स्पष्ट सही कहना । सबसे छोटा है, धातु एक ही है, पर गत् धातु के प्रयोग से जो क्रिया बनाई गई—जगाद्; यह अत्यन्त भूतकाल का प्रयोग है लृटलकार में । जो बहुत पहले का भूत, जो आधुनिक इतिहास से भी बाहर हो, उसके लिए प्रयोग होता है इस लकार का । प्रभु ने इस अर्थी जगत् के लिए तत्त्व को स्पष्ट बताया है । प्रभु तो साधु हुए बाद मौन हो जाते हैं । तो मौन अवस्था में अपनी मुद्रा, चेष्टा, चर्या के द्वारा तत्त्व को स्पष्ट बताया और केवलज्ञान होने पर दिव्यध्वनि द्वारा तत्त्व को स्पष्ट बताया और फिर ब्रह्मपदामृत के ईश्वर हुए याने परमात्मा हुए । ब्रह्मपद क्या है? वह अलौकिक चैतन्यस्वरूप, वही अमृत है । वह जहाँ व्यक्त हो गया है; अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त शक्ति जहा प्रकट हो गई है ऐसे अमृत के ईश्वर प्रभु हुए । इस छंद में दो बातें बताई गई हैं कि प्रभु ने घातिया कर्मों का नाश किया और इस आत्मप्रगति चाहने वाले जगत् को तत्त्वोपदेश किया ।

छन्द ५

स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां समग्रविद्यात्मवपुर्निरञ्जनः ।
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो जिनो जितक्षुल्लकवादिशासनः ।।५।।

अन्वयार्थ—(विश्वचक्षुः) जिनका केवलज्ञानरूपी चक्षु समस्त पदार्थों को विषय करने वाला है, जो **(सताम्)** इन्द्र आदि सत्पुरुषों के **(अर्चितः)** पूजित हैं, **(समग्रविद्यात्मवपुः)** जीवाजीवादि समस्त पदार्थों को विषय करने वाली बुद्धि ही जिनकी आत्मा का स्वरूप है, **(निरञ्जनः)** ज्ञानावरणादि कर्ममल से रहित होने के कारण जो निर्मल हैं, **(नाभिनन्दनः)** चौदहवें कुलकर नाभिराज के पुत्र हैं, **(जिनः)** कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाले हैं, और **(जितक्षुल्लकवादिशासनः)** जिन्होंने क्षुद्रवादियों के शासन को जीत लिया है अथवा **(अजित क्षुल्लकवादिशासनः)** जिनका शासन क्षुद्रवादियों के द्वारा नहीं जीता जा सका है **(सः)** वे **(वृषभः)** धर्म से सुशोभित रहने वाले वृषभनाथ भगवान् **(मम)** मेरे **(चेतः)** चित्त को **(पुनातु)** पवित्र करें—रागादि विकारी भावों से रहित कर निर्मल बनावें ।।५।।

श्री ऋषभदेव की विश्वचक्षुष्कता—वह विश्वचक्षुः, जिसके आत्मा के सारे प्रदेश ही चक्षु बन रहे हैं । यहाँ मनुष्य तो एक इस चमड़ी की आँख से देखते हैं, पर प्रभु नेत्र से नहीं देखते । यह आत्मा के समस्त प्रदेशों से देखते हैं इस कारण विश्वचक्षु कहलाते हैं । उनका समग्र आत्मा ही चक्षु बन गया है अर्थात् अनन्त दर्शन जिसके प्रकट हुआ है, जिससे सारा अर्थसमूह दिख गया है, सामान्य प्रतिभासित हुआ ऐसा विश्वचक्षु वृषभ भगवान हैं । वृषभ का अर्थ है—वृष कहते हैं धर्म को । जैसे छहढाला में कहा है—'जिनवचन में शंका न धारि वृष ।' वृष मायने धर्म । वह वृष जिससे शोभा को प्राप्त होता है उसे कहते हैं वृषभ । तो हे वृषभ ! जो सत् पुरुषों के द्वारा पूज्य है, अर्जित है । पूजित और अर्जित में क्या अन्तर है? 'अर्च चर्च पूजायां,' चर्चित भी कह सकते, अर्चित

भी कह सकते याने लोकचर्चा करते हुए पूजे उसे कहते हैं चर्चित और खाली पूजे, चाहे डर से पूजे, चाहे श्रद्धाभक्ति से पूजे— वह कहलाता है पूजित प्रभु । ये सबके अर्चित हैं याने सब लोग उनके गुण गाते हुए पूजा करते हैं । जो पूजा चर्चासहित होती हो उसको कहते हैं— चर्चित । तो सज्ञनों के यह चर्चित है, और इसका 'समग्र विद्यात्मवपु:' समस्त ज्ञानरूप ही शरीर है जिनका उनका शरीर और कुछ नहीं, किन्तु समस्त ज्ञान हजारों विद्याओं के ईश्वर हैं, यही उनका शरीर है । वे निरंजन हो गए, मलरहित हो गए । निरंजन होने से निर्मल होना ऊँची बात है । मल तो कुछ मोटासा लगा हो, दूर हो गया, पर अंजन तो मल की अपेक्षा बहुत नजदीक की चीज होती है । जैसे आंख का कीचड़ तो मल है । और आख में अंजन लगा है, तो मल तो है ऊपरी चीज और अंजन है भीतरी दोष, चिपका हुआ दोष, तो ऐसे अञ्जन से रहित हुए प्रभु ।

श्री ऋषभदेव की आराधना से पवित्रता का विकास—ये नाभिनन्दन प्रभु जिनेन्द्रदेव जिन्होंने समस्त क्षुल्लकवादियों का शासन जीत लिया । क्षुल्लक कहते हैं तुच्छ को, छोटे को, जैसे प्रतिमाधारियों में क्षुल्लक कहा जाता है । उसका अर्थ है तुच्छ । अब तुच्छ क्या? छोटा मुनि । क्षुल्लक का अर्थ है छोटा मुनि । अगर कोई क्षुल्लक के साथ श्रावक शब्द लगा दे तो उसका तो अर्थ हो जायेगा तुच्छ **(गया बीता)** श्रावक । क्षुल्लक वो विशेषण है । उसके साथ लगता है छोटा मुनि, छोटा साधु । पर जब उसे श्रावक के साथ कहेंगे तो कहा जायेगा उत्कृष्ट श्रावक । तो क्षुल्लकवादियों का शासन जिन्होंने जीत लिया अर्थात् एकान्तवादियों का जिनके दिव्य उपदेश से परिहार हुआ ऐसे नाभिनन्दन प्रभु मेरे चित्त को प्रसन्न करें । ये नाभिनन्दन थे । जैसे अन्य लोग कहते हैं कि ब्रह्मा विष्णु की छुट्टी सुंडी से निकले । विष्णु लेटे हैं और उनकी सुंडी से कमल निकला और उस कमल से ब्रह्मा पैदा हुए । चित्र भी लोग ऐसा बनाते हैं । तो ऐसी जो अनेक बातें बनती हैं उनका कोई आधार तो होता है । आधार यह था कि नाभिराजा से ये वृषभदेव निकले, और यह नाभि सुंडी न थी, किन्तु नाभि राजा थे, उनके ये निकले । और किस तरह निकले, किस तरह प्रकट हुए ? जैसे कमल पर कोई बैठा हो याने निर्लेप । उस चित्रण को जैसे लौकिकजन बोलते हैं, वह मरुदेवी के मरुभाग में उस तरह रहे जैसे कमल में बैठे हुए । मानवों से विचित्र जन्म था उनका । जेर में लिपटे हुए मनुष्यों की तरह पड़े हों, इस तरह प्रकट नहीं होते और इसी कारण उनके जन्म को कभी-कभी पोत जन्म भी कहते हैं । वे जेर से उत्पन्न नहीं होते, किन्तु निर्लेप पैदा होते । तो विष्णु की नाभि प्रकट हुए ब्रह्मा जो चतुर्मुखी होते हैं, वे सब बातें यहाँ घटित होती हैं । ऋषभदेव केवलज्ञानी हुए तो चतुर्मुखी हुए, नाभि से उत्पन्न हुए । वे ब्रह्मा यों कहलाते कि भोगभूमि के समाप्त होने पर सारी सृष्टि की इन्होंने रचना बतायी, ऐसे ये नाभिनन्दन प्रभु मेरे चित्त को प्रसन्न करें ।

(२) श्री अजितजिनस्तवनम्

(उपजाति छन्द:)

छन्द ६

यस्य प्रभावात्त्रिदिवच्युतस्य क्रीडास्वपि क्षीवमुखारविन्द: ।

अजेयशक्तिर्भुवि बन्धुवर्गश्चकार नामाजित इत्यबन्ध्यम् ।।६।।

अन्वयार्थ—(त्रिदिवच्युतस्य) स्वर्ग से अवतीर्ण हुए **(यस्य)** जिनके **(प्रभावात्)** प्रभाव से उनका **(बन्धुवर्ग:)** कुटुम्भि समूह **(क्रीडास्वपि)** बालक्रीड़ाओं में भी **(क्षीवमुखारविन्द:)** हर्षोन्मत्तमुख कमल से मुक्त हो जाता था तथा जिनके प्रभाव से युक्त हो जाता था तथा जिनके प्रभाव से वह बन्धुवर्ग **(भुवि)** पृथ्वी पर **(अजेय शक्ति)** अजेय शक्ति का धारक रहता था और इसीलिये उस बन्धुवर्ग ने **(यस्य)** जिनका **(अजित:)** अजित **(इति)** यह **(अबन्ध्यम्)** सार्थक **(नाम)** नाम **(चकार)** रक्खा था ।

प्रभु अजितनाथ की अजेय शक्तियां—अजितनाथ भगवान के स्तवन में सर्वप्रथम कह रहे हैं कि यह स्वर्ग से आये थे । ये स्वर्ग से आये हुए, जिनके प्रभाव से कीड़ा **(खेल)** में भी साथी जनों का मुखारविन्द अजेय शक्ति रहता था अर्थात् यह अजितनाथ बाल्यावस्था में जहाँ-जहाँ साथ रहे उनके साथी भी अजेय शक्ति हुए और इसी कारण सर्व बन्धुवर्ग ने उनका सफल नाम रखा । अजित—जो किसी से न जीता जाये सो अजित । 'नजित: इति अजित: ।' इस छंद में कई बातों का संकेत है । एक तो यह स्वर्ग से आये थे । तीर्थंकर नरक से आकर भी होते हैं और ऊर्द्ध लोक से आकर भी होते हैं । जो देवलोक से आकर तीर्थंकर होते हें वह बात तो बहुत प्रसिद्ध है । गर्भ में आने से ६ महीना पहले रत्नवर्षा आदिक अतिशय होने लगते हैं, और जो नरकगति से आकर तीर्थंकर होते हैं उनके भी गर्भ में आने से ६ महीने पहले से रत्नवर्षा होने लगती है । पर एक ऐसी कोई कल्पना करे कि वह जीव तो नरक में रहे, कुटे-पिटे, दु:ख भोगे और यहाँ खुशियां मनाई जाये गर्भ में आने से ६ महीना पहले से तो यह बेतुकी बात कैसे रहेगी? तो बात बेतुकी कुछ नहीं है । जैसे गर्भ में आने से ६ महीना पहले से रत्नवर्षा होती है तो वहाँ उसी समय से जब से यह रत्नवर्षा शुरू होती है वहाँ देव कोट रचते हैं । तो वहाँ देवों का पहरा रहता है कि कोई नारकी जीव सता न सके । मनुष्यगति से जाकर कोई तीर्थंकर नहीं होता और हो तो उसके पंच कल्याणक नहीं हो पाते । तिर्यञ्चगति से भी जाकर कोई तीर्थंकर नहीं होता । तीर्थंकर जो होगा कोई नरक और देव से अतिरिक्त गति से आकर तो उस ही भव में तीर्थंकर प्रकृति बांधेगा, फिर केवल ज्ञानकल्याणक मनाया जायेगा । निर्वाण कल्याणक भी मनाया जायेगा और किसीने अगर गृहस्थावस्था में ही तीर्थंकर प्रकृति बांध ली तो उसके तीन कल्याणक मनाये जायेंगे—तप, ज्ञान, निर्वाण पर गर्भ और जन्म ये दो कल्याणक उसी के ही होते हैं जिसने पूर्वभव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया और तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके वह जीव नरकगति या देवगति में जाकर वहा से आकर तीर्थंकर होता है । नरक में जाने वाला तीर्थंकर प्रकृतिबंध वाला तीसरे नरक से नीचे नहीं जाता । तो यह प्रभु ऊर्द्ध लोक से आये हैं । और यह जिस-जिस जगह साथ रहते हैं, जिन-जिनका इनका सत्संग रहा बचपन में भी तो इनके सहवासी सब अजेय रहे और इसी कारण इनका नाम अजित नाथ रखा गया ।

छन्द ७

अद्यापि यस्याजितशासनस्य सतां प्रणेतुः प्रतिमङ्गलार्थम् ।

प्रगृह्यते नाम परं पवित्रं स्वसिद्धिकामेन जनेन लोके ।।७।।

अन्वयार्थ—(अजितशासनस्य) परवादियों के द्वारा अविजित अनेकान्त मत से युक्त तथा **(सतां प्रणेतुः)** सत्पुरुषों के प्रधान नायक **(यस्य)** जिन अजितनाथ भगवान् का **(परं पवित्रं)** अत्यन्त पवित्र **(नाम)** नाम **(अद्यापि)** आज भी **(स्वसिद्धिकामेन)** अपने मनोरथों की सिद्धि के इच्छुक **(जनेन)** जन समूह के द्वारा **(प्रतिमङ्गलार्थम्)** प्रत्येक मंगल के लिये **(प्रगृह्यते)** सादर ग्रहण किया जाता है ।

मङ्गलनायक श्री अजितनाथ की परम स्मर्यमाणता—आजकल भी अपनी सिद्धि चाहने वाले मनुष्यों के द्वारा अजितनाथ यह परम पवित्र नाम ग्रहण किया जाता है । लोग नाम लेते हैं किसलिए? एक मंगलकार्य के लिए । जहा पाप गले और आनन्द इतना हो, ऐसी स्थिति पाने के लिए जिनका आज भी नाम लिया जाता है, जिनका शासन अजित है, जो उन्होंने मार्ग बताया, आत्मतत्त्व का उपदेश किया, जिस-जिस स्वरूप का वर्णन किया वह सब अजित है, अजेय है, बाधारहित है । और निर्वाध उपदेश बनने का कारण यह है कि उपदेश अनेककान्त वाणी में है । पदार्थ वस्तुत: अवक्तव्य है, उसका स्वरूप यथार्थ वर्णन में नहीं आ सकता, लेकिन वर्णन बिना काम भी नहीं चलता तो वर्णन होता है दो दृष्टियों का । द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि, भेददृष्टि और अभेद दृष्टि । तो पदार्थ का दोनों दृष्टियों से कथन है इस कारण प्रभु का शासन अजित है । इसका कोई खण्डन नहीं कर सकता । जो प्राणियों के लिए हितकारी है ऐसा अजित शासन जिनका है उन प्रभु का नाम आज भी मंगल के लिए लिया जाता है । ये प्रभु समस्त सज्जन के प्रणेता कहलाते हैं । प्रणेता के दो अर्थ हैं—प्रकृष्टनेता अथवा उसके ले जाने वाले रचने वाले, जिनके उपदेश को सुनकर लोग सज्जन बनते हैं यह तो हुई एक रचना को बात और जितने भी संत पुरुष हैं उन सबके ये मुख्य है, यह है प्रणेता की बात । तो उनका आज भी पवित्रनाम मंगल कामना के लिए लिया जाता है ।

छन्द ८

यः प्रादुरासीत्प्रभुशक्तिभूम्ना भव्याशयालीनकलंङ्कशान्तये ।

महामुनिर्मुक्तघनोपदेहो यथारविन्दाभ्युदयाय भास्वान् ।।८।।

अन्वयार्थ—(मुक्तघनोपदेहः) ज्ञानावरणादि कर्मरूप सघन आवरण से रहित **(यः)** जो **(महामुनिः)** गणधरादि देवों में प्रधान अथवा प्रत्यक्षज्ञानी अजितनाथ भगवान् **(भव्याशयालीनकलङ्कशान्त्ये)** भव्यजनों के हृदय में संलग्न अज्ञान अथवा उसके कारणभूत ज्ञानावरणादिकर्मरूप कलङ्क की शान्ति के लिये **(प्रभुशक्तिभूमना)** जगत में उपकार करने में समर्थ वाणी के माहात्म्य विशेष अथवा प्रभुत्वशक्ति की प्रचुरता से **('तथा' प्रादुरासीत्)** उस तरह प्रकट हुए थे **(यथा)** जिस तरह कि **(मुक्तघनोपदेहः)** मेघरूप आच्छादन से मुक्त सूर्य **(अरविन्दाभ्युदयाय)** कमलों के

विकासरूप अभ्युदय के लिये प्रकट होता है ।

श्री अजितनाथ की प्रभुशक्ति का प्रताप—जो प्रभु, प्रभुशक्ति की बहुलता से भव्य पुरुष के अभिप्राय में कोई कलंक हो तो उसकी शान्ति के लिए हुए अथवा उनके प्रमोद के लिए हुए । जैसे कि कमल के प्रमोद के लिए सूर्य होता है, जब कि सूर्य का कोई घन आवरण न रहे, बादल न रहे और स्पष्ट आवरण अथवा प्रकाश हो तो वहाँ जैसे कमल प्रफुल्लित हो जाता है ऐसे ही ये प्रभु अपनी घन-शक्तियों के कारण इन भव्य पुरुषों के कलंक की शान्ति के लिए समर्थ रहते हैं । ये महामुनि थे । इनका घन-उपदेह न था । घन-उपदेह उसे कहते हैं जिसका देह भी बोझल होता है, जिसको देह में ममता होती है । और जिसको ममता नहीं है तो देह के प्रति ख्याल न होने से देह का कुछ भी घन नहीं कहलाता, अथवा उनके देह में वजन नहीं होता । इस शब्द से स्वानुभूति के समय की स्थिति का एक चित्रण है । जो देह पर दृष्टि रखता हैं, देह से लगाव, प्रीति रखता है, अहंभाव रखता है वह पुरुष अपने को एक बोझिल अनुभव करता है । उसके घन-उपदेह बन गया और जो केवल एक अंतस्तत्त्व की दृष्टि रखते हैं उनकी दृष्टि में देह तक भी नहीं होता । उनको घन-उपदेह नहीं बनता । रहा आया देह, लेकिन उनके विकल्प में, उपयोग में देह की कुछ भी बात नहीं है । और यह बात बनती है महा मुनिजनों के तो अजितनाथ स्वामी विरक्त होकर एक महामुनिरूप में आये । वहाँ अध्ययन उपदेश से मुक्त रहे, इसी कारण भव्य प्राणियों के हृदय में रहने वाले कलंकों की शान्ति के करने वाले हुए । आत्महित के लिए केवल एक ही उपाय है— शान्ति के लिए कि सबसे निराले ज्ञानमात्र अपने स्वरूप में दृष्टि आये । यह मैं हूँ, बाकी मैं, कुछ नहीं । यह स्वरूप ही मेरा है, बाकी और कुछ मेरा नहीं, ऐसा जिसके दृढ़तम विश्वास है उस सम्यग्दृष्टि पुरुष के ही यह मुक्ति घनोपदेहता बनती है, सो ये प्रभु भव्य जीवों के आनन्द के बढ़ाने के लिए हुए ।

छन्द ९

येन प्रणीतं पृथुधर्मतीर्थं ज्येष्ठं जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखम् ।
गाङ्गं ह्रदं चन्दनपङ्कशीतं गजप्रवेका इव घर्मतप्ताः ।।९।।

अन्वयार्थ—(येन) जिन अजितनाथ भगवान् के द्वारा **(प्रणीतं)** प्रकाशित **(पृथु)** अत्यन्त विस्तृत एवं **(ज्येष्ठं)** श्रेष्ठ **(धर्मतीर्थं)** धर्मरूपी तीर्थ अथवा धर्म के प्रतिपादक श्रुत को **(प्राप्य)** पाकर **(जनाः)** भव्यजीव **(दुःखं)** संसार-परिभ्रमणरूप क्लेश को उस तरह **(जयन्ति)** जीत लेते हैं जिस तरह कि **(घर्मतप्ताः)** सूर्य के आताप से पीड़ित **(गजप्रवेकाः)** बड़े-बड़े हाथी **(चन्दनपङ्क शीतं)** चन्दन के द्रव के समान शीतल **(गाङ्गं ह्रदं)** गङ्गा नदी के द्रह-अगाध जल को पाकर सूर्य के संताप से उत्पन्न दुःख को जीत लेते हैं ।

श्री अजितनाथ प्रभु द्वारा प्रणीत पृथुधर्मतीर्थ की प्राप्ति से कष्ट प्रणाश—संसार के मनुष्य जो दुःख पर विजय पाते हैं वे इस ही श्रेष्ठ धर्मतीर्थ को प्राप्त करके दुःख पर विजय पाते हैं । किस धर्मतीर्थ को ? जो कि अजितनाथ प्रभु ने बताया । अजितनाथ भगवान की स्तुति चल रही है इसलिए उनकी ही बात कही जा रही है कि जिनके द्वारा प्रणीत, बताये गए, प्रकट किए गए धर्म को पाकर मनुष्य दुःख पर विजय प्राप्त करते हैं । देह

में आत्मबुद्धि हो, दुःख पर दृष्टि हो तो उससे कायरता बढ़ती है, दुःखों पर विजय नहीं बनती । दुःखों पर विजय वे ही पा सकते हैं जिनकी आत्मस्वरूप में, आत्मरूप में रुचि हुई है, आस्था हुई है । जो निज को निज, पर को पर जानते हैं वे ही दुःखों पर विजय प्राप्त करते हैं, किन्तु ऐसे ज्ञानी पुरुष के लिए दुःख कुछ चीज ही नहीं रहता । दुःख कहलाता है— इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, वेदनाप्रभव और आर्तध्यान । ज्ञानी पुरुष के निदान होता नहीं, क्योंकि उसने सब असार जाना । पंचेन्द्रिय के विषय सब सारहीन हो गए तो उनकी दृष्टि कैसे करेगा ? इष्टवियोग का दुःख ज्ञानी को यों नहीं होता कि वह जानता है कि मेरे लिए जगत् में कुछ भी इष्ट नहीं है क्योंकि मेरा साथी मात्र मैं ही हूँ, मेरा अन्य कोई साथी नहीं है । उसे इष्ट का वियोग ही क्यों होगा? किसी को इष्ट माने तो वियोग का दुःख हो । ज्ञानी सब समझता है, पदार्थों की भिन्नता जानता है, उसे इष्ट का विकल्प नहीं होता । जब इष्ट का विकल्प नहीं तो अनिष्ट का भी नहीं । अनिष्ट के संयोग में दुःख हुआ करता है । जब अनिष्ट ही कुछ नहीं माना तो दुःख काहे का? धन घटा, मकान गिरा तो इसका दुःख जैसे ज्ञानी को नहीं ऐसे ही लौकिक जनों के लिए जो-जो बातें अनिष्ट होती हैं उनका संयोग हो तो उनका भी दुःख नहीं माना करते हैं, तो जिनके द्वारा प्रणीत विशाल धर्मतीर्थ को पाकर मनुष्य दुःख पर विजय प्राप्त करते हैं । जैसे कि बड़े तीव्र आताप से तपे हुए हाथियों के बच्चे गंगा नदी में या किसी तालाब में जिसका बहुत शीतल जल हो उसमें प्रवेश करके आताप के दुःख को दूर कर लेते हैं । ऐसे ही मनुष्य, प्रभु के बताये हुए मार्ग पर चलकर दुःखों पर विजय प्राप्त करते हैं । दुःखों पर विजय प्राप्त करने की और कोई तरकीब नहीं । धर्म में आये, ज्ञान में आये, अपने को देखे, मोह ममता से दूर हटे तो दुःखों पर विजय पा लेगा और बाहरी चीजों में ममत्व रखकर कोई दुःखों पर विजय नहीं पा सकता ।

छन्द १०

स ब्रह्मनिष्ठः सममित्रशत्रुः विद्याविनिर्वान्तकषायदोषः ।

लब्धात्मलक्ष्मीरजितोऽजितात्मा जिनश्रियं मे भगवन् विधत्ताम् ।।१०।।

अन्वयार्थ—(विद्याविनिर्वान्त-कषाय-दोषः) जिन्होंने परमागम के ज्ञान और उसमें प्रतिपादित मोक्षमार्ग के अनुष्ठानरूप विद्या के द्वारा कषायरूपी दोषों को अथवा द्रव्यक्रोधादिरूप कषाय और भावक्रोधादिरूप दोषों को बिल्कुल नष्ट कर दिया है, जो **(ब्रह्मनिष्ठः)** शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिति हैं, **(सममित्रशत्रुः)** जिन्हें मित्र और शत्रु समान हैं, **(लब्धात्मलक्ष्मीः)** जो आत्मा की अनन्त ज्ञानादि लक्ष्मी को प्राप्त कर चुके हैं और **(जितात्मा)** जिन्होंने अपने आपको जीत लिया है अर्थात् जो इन्द्रियों के अधीन नहीं है **(सः)** वे **(अजितः भगवान्)** अन्तरङ्ग बहिरङ्ग शत्रुओं के द्वारा अपराजित अजितनाथ भगवान् **(मह्यम्)** मेरे लिये **(जिनश्रियम्)** आर्हन्त्यलक्ष्मी—अनन्त ज्ञानादि विभूति **(विधताम्)** प्रदान करें ।।५।।

ब्रह्मनिष्ठ श्री अजितनाथ की आराधना से श्रीलाभ—वे प्रभु ब्रह्मनिष्ठ हैं, आत्मा के अनेक नाम होते हैं और उनके भिन्न-भिन्न अर्थ समझने से आत्मा का हर प्रकार से बोध हो जाता है । जीव; चेतन, आत्मा, ब्रह्मा आदिक

अनेक नामों से पुकारा जाता है यह, तो जीव का अर्थ तो यह है जो प्राणों से जिन्दा है सो जीव । व्यावहारिक, मन, वचन आदिक इन्द्रिय आदिक प्राणों से जीवित रहे सो जीव । परमार्थत: अपना चैतन्य प्राणों से जो जीवित रहे सो जीव । चैतन्य का अर्थ है जो चेते प्रतिभासे सो जीव । आत्मा का अर्थ है जो निरन्तर जानता रहे सो जीव और ब्रह्म का अर्थ है जो अपने गुणों को बढ़ाता हुआ ही रहे सो ब्रह्म । तो ऐसे एक इस ब्रह्मस्वरूप में, चैतन्यस्वरूप में जो निष्ठ रहे, उपयुक्त रहे, जिसके लिए शत्रु-मित्र समान रहें, जब अपने को सबसे निराला समझ लिया और मेरा बाहर में कुछ है ही नहीं, यह स्पष्ट बोध हो गया, अब उनके बाहरी जड़ों में शत्रु और मित्र की कल्पना भी नहीं जगती । प्रभु के लिए, ज्ञानियों के लिए शत्रु और मित्र एक समान हो गए । प्रभु ने अपनी ज्ञानकला द्वारा समस्त कषाय-दोषों का उपशमन कर दिया है । कषाय दोष है, कषाय विपत्ति है । कितनी भी कषाय जगे तो तुरन्त क्षोभ हो जाता है । उस कषाय का निवारण किया । उस कषाय को दूर किया तो सम्यग्ज्ञान ने ही किया । तो अजितनाथ प्रभु के स्तवन में कह रहे हैं कि जिनके सम्यग्ज्ञान की कला के द्वारा कषाय दोष सब निर्वाण को प्राप्त होते हैं शान्त होते हैं, दूर हो जाते है, ऐसे ये प्रभु हम सबका कल्याण करें । जिनको आत्मलक्ष्मी प्राप्त हो गई अर्थात् आत्मस्वरूप जिनकी दृष्टि में निरन्तर बना रहता है, जो अजित है, किसी के द्वारा जीता नहीं जा सकता ऐसे ही अजित आत्मा जिनेन्द्रदेव मेरे को श्री देवें, लक्ष्मी देवें । कौनसी लक्ष्मी? ज्ञानलक्ष्मी । लक्ष्मी नाम तो वास्तव में ज्ञान का है, आत्मा के लिए क्योंकि लक्ष्मी, लक्षण, लक्ष्म चिह्न ये सब एकार्थक शब्द हैं । आत्मा का जो स्वरूप है, आत्मा का जो चिह्न है उसे कहते हैं लक्ष्मी । तो ऐसी आत्मलक्ष्मी जिन्होंने प्राप्त कर ली है ऐसे अजितनाथ प्रभु हम सबका कल्याण करें ।

(३) श्री शम्भवजिनस्तवनम्

(इन्द्रव्रजाछन्द)

छन्द ११

त्वं शम्भव: संभवतर्षरोगैः संतप्यमानस्य जनम्य लोके ।

आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो वैद्यो यथाऽनाथरुजां प्रशान्त्यै ।।११।।

अन्वयार्थ—हे भगवान् **(त्वं शंभव:)** आपसे भव्य जीवों को सुख प्राप्त होता है इसलिये आप ‘शंभव’ इस सार्थक नाम को धारण करने वाले हैं । आप **(इह लोके)** इस संसार में **(संभवतर्षरोगै:)** सांसारिक भोग तृष्णा रूप रोगों से **(संतप्यमानस्य)** अतिशय पीड़ित **(जनस्य)** जन समूह के लिये **(तथा)** उस तरह **(आकस्मिक एव)** फल की अपेक्षा से रहित वैद्य:) वैद्य **(आसी:)** हुए थे **(यथा)** जिस तरह कि **(अनाथरुजाम्)** अशरण मनुष्यों के रोगों की **(प्रशान्त्यै)** शान्ति के लिये **(वैद्य:)** धनादि की इच्छा से रहित वैद्य होता है ।

श्री संभवनाथ की संभवतर्षरोगों से संतप्यमान जनों के लिये आकस्मिक वैद्यता—सम्भवनाथ प्रभु के स्तवन में समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि हे प्रभु ! तुम शम्भव हो । संसार में उत्पन्न हुए तृष्णारूपी रोग से संतप्त अथवा तप रहे इन प्राणियों के लिए हे प्रभो ! आप एक आकस्मिक ही वैद्य हो । जैसे कि रोगों की शान्ति के लिए कोई

वैद्य होता है, सो हे प्रभु ! तृष्णारोग से संतप्त हो रहे इस जनसमूह के लिए आप आकस्मिक वैद्य हो । आकस्मिक वैद्य उसे कहते हैं जो कुछ अपेक्षा न रखकर बिना चाहे भी, बिना प्रतीक्षा किए भी जो आ जाये उसे कहते हैं आकस्मिक । अब संसार के प्राणी मोक्षमार्ग की प्रतीक्षा कहाँ कर रहे थे और उस ज्ञानमार्ग की बात को कहाँ जान रहे थे? तो ये प्रभु आकस्मिक ही तो मिले हैं प्राणियों को अर्थात् प्राणियों की ओर से कोई तमन्ना न थी, इच्छा न थी, उनकी कोई तैयारी न थी, प्रोग्राम न था कि चलो प्रभु मिलेंगे, प्रभु से उपदेश सुनेंगे, ऐसा कुछ न था । तो ऐसे लोगों के लिए जो प्रभु मिले, उनकी दिव्यध्वनि खिरी तो यह सब इनके लिए आकस्मिक है । आकस्मिक का तो और भी अधिक महत्त्व है । सो जैसे रोगों की शान्ति के लिए कोई वैद्य होता है । वैद्य कहो या कवि कहो—दोनों का एक ही अर्थ है । धातुवें अन्य-अन्य हैं । कवि 'कबृ वर्णे' धातु से बना, वैद्य 'विद' धातु से बना । बंगला में तो अब भी वैद्य को कविराज कहते हैं । छंदशास्त्र जानने वाले को बंगला में कवि नहीं कहते, किन्तु जो वैद्य है उसको कविराज कहते हैं । तो कवि का भी वही अर्थ है और वैद्य का भी वही अर्थ है, मगर जानने के थोड़े से अर्थ में जो छंदशास्त्र विधि से जाने सो कवि और जो चिकित्सा शास्त्र की विधि से जाने सो वैद्य । तो जैसे वैद्य रोगों की शान्ति के लिए है ऐसे ही हे प्रभु ! आप तृष्णारोग की शान्ति के लिए हैं । दूसरों को जो तृष्णा का रोग लगा है उसकी शान्ति के लिए आप आकस्मिक वैद्य हो अर्थात् आपकी परम करुणा से जगत् के प्राणी जो अंधेरे में थे, उजेले में पंहुचे । इस तरह की कोई इच्छा न रखता था उनका आपके उपदेश से कल्याण हुआ ।

(उपेन्द्रवजाछन्द)

छन्द १२

अनित्यमत्राणमहंक्रियाभि: प्रसक्तमिथ्याध्यवसायदोषम् ।

इदं जगज्जन्मजरान्तकार्तं निरञ्जनां शान्तिमजीगमस्त्वम् ।।१२।।

अन्वयार्थ—हे भगवान् ! **(अनित्यम्)** विनश्वर **(अत्राणम्)** रक्षकरहित, **(अहंक्रियाभि:)** 'मैं ही सब पदार्थों का कर्ता-धर्ता हूं' इस प्रकार अहंकार ममकार की क्रियाओं से संलग्न मिथ्याअभिनिवेशरूप दोष से दूषित तथा **(जन्मजरान्तकार्तं)** जन्म बुढ़ापा और मृत्यु से पीड़ित **(इदं जगत्)** इस जगत् को **(त्वम्)** आपने **(निरञ्जनां)** कर्म-कलङ्क से रहित मुक्तिरूप **(शान्तिं)** शान्ति को **(अजीगम:)** प्राप्त कराया है ।

जन्मजरान्तकार्तं जगत् को शान्तिलाभ के विधाता—हे प्रभु ! तुमने इस संसार को निरञ्जन शान्ति पहुंचायी थी । निरञ्जन शान्ति को प्राप्त कराया । जनाया क्रिया है जाने अर्थ में और अर्थ बनता है शान्त कराया । इससे ऐसा ध्वनित होता है कि ये जीव शान्ति से अलग थे, अशान्ति में थे, अब शान्ति में गए । कौन गया ? यह उपयोग ही । अध्यात्मशास्त्र में कर्म तीन प्रकार के होते हैं—प्राप्य, विकार्य और निर्वृत्य । प्राप्य कर्म वे कहलाते हैं कि जो पाये जायें । जैसे अमुक स्टेशन को गए, तो स्टेशन पर न था और उसने स्टेशन को पाया । तो कोई कर्म होता है प्राप्य । और कोई कर्म होता है विकार्य, जैसे दूध ने दही बनाया, जामन से दही को बनाया । अब जामन या दूध कहीं गया नहीं, प्राप्य नहीं किया, किन्तु वहीं का वहीं विकृत हो गया, यह

कहलाता है विकार्य । कर्म जहा भी लगे और यहा कर्म होता है निर्वृत्य । जैसे लोहे की तलवार बनायी तो तलवार में कोई विकार नहीं डाला । है वह शुद्ध लोहा, पर वह निर्वात्य लोहा है, उससे रचा गया है, ऐसे ही समझो कि जो संसारी प्राणी शान्ति को पायेंगे तो जिसे पायेंगे वह प्राप्य है, विकार्य है, निर्वृत्य है । प्राप्य यों है कि अशान्त अवस्था में थे, शान्त अवस्था को प्राप्त किया । विकारी का अर्थ कुछ भी परिणमे, विकार का अर्थ नहीं है । एक परिणमन है, अब दूसरा परिणमन बना । विकार परिणमन को भी बोलते हैं और विकार शुद्ध परिणमन को भी कहते । जैसे पर्याय का लक्षण किया 'गुण विकारः पर्यायः,' गुणों के विकार को पर्याय कहते हैं । भगवान अरहंत के भी तो पर्याय है, वहा भी ज्ञानगुण का विकार है, सब गुणों का विकार है, उनके विकार का अर्थ शुद्ध नहीं है किन्तु परिणमन मात्र है । तो यह जीव अशान्त अवस्था में था और शान्तिरूप में परिणम गया, यह हुआ विकार परिणमन । निर्वृत्य परिणमन है रचा हुआ । शान्त अवस्था जीव की ही है । जीव ने ही तो शान्ति को रचा, तो ये तीन बातें वस्तुतः अभिन्न कर्मों में हुआ करती हैं, पर यह शान्ति जिस प्रकार के निमित्त से प्राप्त हुई उन प्रभु पर, एक निमित्त पर कर्तृत्व का आरोप किया जाता है । भक्ति में ऐसा ही कहा जाता है । तो प्रभु ! आपने इस समस्त जगत् को निरंजन शांति को प्राप्त कराया, निरंजन मायने निर्दोष निरपेक्ष ।

जगत् की आर्तता—कैसा है यह जगत् ? जिसे शान्ति को प्राप्त कराया ? जगत् के मायने संसार । संसार के मायने प्राणी समूह । तो प्रत्येक प्राणी की बात लेनी है । जैसे कोई कहे कि अमुक ने इस पार्टी को भोजन कराया तो पार्टी का कैसे भोजन होता है? जितने भी आदमी हैं उन सबका भोजन है । तो ऐसे ही जब कहा जाये कि इस जगत् को शान्ति दिलायी तो जगत् का अर्थ क्या? प्राणियों का समूह । कैसा है यह प्राणी समूह? कैसा है यह जगत्? अनित्य है । जो कुछ दिख रहा वह सब अनित्य है । यह प्राणीवर्ग भवभव में घूमता है, दुःखी होता है, यह सब अनित्य है और अत्राण है, रक्षारहित है । इस संसार में कोई किसी की रक्षा करने वाला नहीं है । एक बहुत बड़ा सर्वमान्य पुरुष भी हो, पूज्य हो, साधु हो, बड़ा नेता हो, सबके काम आ रहा हो वह भी कभी चूक जाये याने लोगों के उपकार में ढिलाई करे या न कर सके या बुराई कर दे तो लोग फिर उसे भी नहीं मानते और उसकी भी रक्षा नहीं करते, अन्य प्राणीसमूह की तो बात ही क्या है । देखो, आज एक बहुत बड़ा राजा है, वह न रहे राजा तो उसकी भी फिर कौन पूछ करने वाला है? ऐसा यह सारा जगत् त्राणरहित है । और कैसा है यह प्राणीवर्ग ? अहंकार के द्वारा मिथ्या अध्यवसाय जिसके लग गया है, अहं **(मैं)** करता हूँ, मैं अमुक काम करता हूँ, अमुक को किया था, इस प्रकार का मिथ्या अध्यवसाय जिसको लगा हुआ है, ऐसा यह प्राणीसमूह, इसे शान्ति पहुंचायी प्रभु ने । और कैसे हैं ये प्राणीसमूह ? जन्म, जरा और मरण से पीड़ित हैं । ये तीन बहुत बड़े दोष हैं । जन्म और मरण—ये तो प्रमुख दोष हैं ही, मगर बुढ़ापा भी मरण की तरह का ही एक क्लेश है । इसलिए तीन दोषों का प्रमुखता से वर्णन किया जाता है । जन्म, जरा, मरण—इन तीन दोषों से पीड़ित इस समस्त जगत् को हे प्रभो ! आपने शान्ति प्रदान की ।

(उपजाति छन्द)

छन्द १३

शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः ।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं तापस्तदायासयतीत्यवादीः ।।१३।।

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय से **(सौख्यं)** इन्द्रियजन्य सुख **(शतह्रदोन्मेषचलं)** बिजली की कोंध के समान चञ्चल है तथा **(तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः)** तृष्णारूपी रोग की पुष्टिमात्र का कारण है । **(च)** और **(तृष्णाभिवृद्धिः)** तृष्णा की चौमुखी वृद्धि **(अजस्रं)** निरन्तर **(तपति)** ताप उत्पन्न करती है, एवं वह **(तापः)** ताप **(तत्)** जगत् को **(आयासयति)** क्लेशों की परम्परा द्वारा दुःखी करता है.....**(इति अवादीः)** ऐसा आपने कहा था ।

संसार का यह सारा सुख बिजली के उन्मेश की तरह चंचल है । जैसे बिजली का प्रकाश क्षणभर को है ऐसे ही यह सुख भी क्षणभर को है, और इसकी क्षणिकता किसी को समझना हो तो पहले का जो किया हुआ सुख है, भोगा हुआ सुख है, गुजरा हुआ सुख है, उसकी याद करके समझा जा सकता है । वर्तमान सुख को क्षणिक समझ सके कोई, इसमें ज्ञानबल चाहिए और विशेष अभ्यास भावना का बल चाहिए । जिसे समझना हो कि संसार का सुख बिजली की तरह चंचल है, विनाशीक है तो वह गुजरे हुए सुख की याद करे ? कितने क्षण के लिए कब कुछ सुख मिला? तो ऐसे सारे सुख वर्तमान में जो मिले सो वे बिजली के उन्मेश की तरह चंचल हैं और उतना ही बना रहे तो भी बुरा न था, लेकिन यह तो तृष्णा और रोग को उत्पन्न करने के कारण हैं; सांसारिक सुख, विषयसुख तृष्णा को तो बढ़ाते ही हैं । अगर कुछ विवेक रखना हो और साथ में विरोध रखना हो तो बजाय उससे संघर्ष करे उसको कोई तृष्णा का साधन लगा दे, जैसे कोई भोजन अच्छा मीठा कर दे या किसी भी प्रकार के विषय का चस्का लगा दे तो यह सबसे विकट बैर का निभाना है, क्योंकि ये संसार के जो सुख हैं वे तृष्णा और रोग को प्राप्त कराने के कारण हैं और उनसे तृष्णा की वृद्धि ही होती है; और यह तृष्णा की वृद्धि निरन्तर इस जीव को संताप पैदा करती है । संसार का प्राणी दुःखी है तो बस तृष्णा के कारण दुःखी है । कोई कुछ भले में ऐसा कहे कि मुझे कुछ तृष्णा नहीं, मुझे कुछ ममता नहीं, तो जब इसमें कुछ भला गुजर रहा है और कुछ धार्मिक परिस्थिति का प्रसंग है तो ऐसा कहने में आता है । मगर परीक्षा कब होती है? जब प्रतिकूल घटना होती है तब इस बात की परीक्षा बनती है कि इसमें ममता है अथवा नहीं । तो तृष्णा की जो यह वृद्धि है, यह सभी जीवों को लगी है और यही निरन्तर संताप उत्पन्न करती है, और यह संताप इस संसारी प्राणी को दुःखी कर रहा है । ऐसा हे प्रभु ! तुमने ही तो बताया है ।

याथात्म्यदर्शक स्तवन—समन्तभद्राचार्य द्वारा रचित इन छन्दों में, स्तवनों में गुणस्मरण है और साथ ही दार्शनिक विधि से वस्तुस्वरूप का वर्णन है । सो ७वें छन्द तक तो वहम का शब्द भी नहीं आया, पर भक्ति विशेष थी और वह भक्ति स्तवन गुणों के स्तवन के रूप से हुआ है । दर्शन करने की दो पद्धतियां होती हैं—मन्दिर में गए—जैसे मूर्ति देखे, पहिले नमस्कार करे, पीछे गुण गाये, एक यह विधि है । दूसरी यह विधि है कि पहले खूब गुण गा ले, और अपना मन भक्ति में खूब ओतप्रोत कर ले फिर नमस्कार करे, ऐसी दो विधियां चलती हैं और यह सबकी अपनी-अपनी एक पसंद की बात है, पर बहुत कुछ बात पहले गुणस्मरण करे,

गुणानुवाद करे तो बाद में एक मन से और अनुरागपूर्वक शीश झुक जाता है । तद्यपि पहले भी हो सकता है ऐसा, पर इन दोनों में अपेक्षाकृत एक बिना बनावटपना वहाँ अधिक है कि पहले गुणानुवाद करे, पीछे प्रणाम करे, तो यह विधि यहाँ अपनाई गई है । समन्तमद्राचार्य ने प्रभुस्तवन में पहले गुणस्मरण किया है, पीछे वंदन किया है और उसके बाद गुणस्मरण वंदन सब मिश्र चले हैं । प्रभु के गुणानुवाद में कह रहे हैं कि हे प्रभु ! तुमने ही तो बताया ऐसा कि यह सारा सुख चंचल है, तृष्णा रोग को बढ़ाने वाला है और इस तृष्णा की बुद्धि से निरन्तर संताप होता है और यह संताप इस संसारी प्राणी को बरबाद कर रहा है, ऐसा हे प्रभु ! तुमने ही बताया ।

(इन्द्रव्रजाछन्द)

छन्द १४

बंधश्च मोक्षश्च तयोश्च हैतू बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः ।
स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ।।१४।।

अन्वयार्थ—(हे नाथ) हे स्वामिन् **(बन्धश्च)** बन्ध, **(मोक्षश्च)** मोक्ष **(तयोर्हेतु च)** बन्ध और मोक्ष के हेतु **(बद्धश्च)** बद्ध आत्मा **(मुक्तश्च)** मुक्त आत्मा **(च)** और **(मुक्तेः)** मुक्ति का **(फलं)** फल....यह सब **(स्याद्वादिनः)** अनेकान्तमत से निरूपण करने वाले **(तथैव)** आपके ही **(मते)** मत में **(युक्तं)** ठीक होता है । **(एकान्तदृष्टेः न)** एकान्तदृष्टि रखने वाले बौद्ध अथवा सांख्य आदि के मत में ठीक नहीं होता **(अतः)** इसलिये **(त्वम्)** आप ही **(शास्ता)** तत्त्वोपदेष्टा है ।

स्वाद्वादनायक प्रभु के शासन में बंध, मोक्ष आदि की सुव्यवस्था—हे प्रभु ! जो बंध और मोक्ष का मार्ग और बद्ध-मुक्त की स्थिति और बंध-मोक्ष का कारण इन सब बातों का वर्णन स्याद्वाद के नायक आपके ही युक्त है, जो एकान्तदृष्टि के लोग हैं उनके इन सबका वर्णन युक्त याने संगत नहीं हो सकता, इस कारण हे प्रभु ! तुम ही वास्तव में उपदेष्टा हो । उपदेश करने वाला वही तो सही कहलायेगा कि जिसके वचनों में विरोध नहीं है, जिसके वचनों में किसी प्रकार का दोष नहीं है । वस्तु का स्वरूप सही बताया जा सकता हो वही तो उपदेष्टा हो सकता है, सो यह बात आपके ही संभव है क्योंकि आप स्याद्वाद के समर्थक हैं, स्याद्वादी हैं, स्याद्वाद शासन के नेता हैं, इसलिए हे प्रभु ! आप ही वास्तव में आकस्मिक हैं । यह वर्णन अन्यत्र क्यों नहीं हो सकता? कैसे हो? मान लो किसी ने एकान्त किया कि यह आत्मा अपरिणामी है, अविकारी है, तो जब अपरिणामी है, अविकारी है, तो जब परिणमन नहीं तो फिर मोक्ष की जरूरत क्या है? तब फिर बंध और मोक्ष के उपाय बताने की जरूरत क्या है? और बद्ध और मुक्त की दशा ही फिर क्या रही? अच्छा, यदि कोई क्षणिकवादी है याने समय-समय के परिणमन को ही पूरा द्रव्य मान ले, ब्रह्मवाद के प्रतिपक्ष में चले, तो ऐसा चला क्षणिकवाद कि दो समय की भी क्या पर्याय नहीं उसकी दृष्टि में है? तो ऐसे क्षणिकवाद के यहाँ तब एक समय के लिए आत्मा है, दूसरे समय वह है ही नहीं, तो बंधन किसका, मोक्ष किसका? फिर उपदेश किसके लिए दिया जाये, किस प्रयोजन के लिए कहा जाये ? इसी प्रकार एकान्त के और और भी दर्शन हैं, तो सभी एकान्त दर्शन में बंध-मोक्ष, बंध का कारण, मोक्ष

का कारण, बंध का स्वरूप, मुक्त का स्वरूप, बंधन का फल, मोक्ष का फल—ये कुछ भी नहीं बन सकते, पर स्याद्वादी प्रभु के सिद्धान्त में सभी युक्त हो जाते हैं, क्योंकि आत्मा नित्यानित्यात्मक है । वही आत्मा है, उसकी अवस्थायें बदलती रहती हैं । यदि वही रहे केवल और अवस्थायें बदलती न हों तो यह बात न बनेगी । अवस्थायें ही अवस्थायें परिपूर्ण स्वतंत्र पदार्थ हों तो ये बातें नहीं बनती । तो कोई अगर ऐसी शंका करे कि फिर तो ये जैनी या स्याद्वादी तो अवसरवादी हुए । जिस समय अनित्य की बात कहने से कोई समस्या खड़ी होती तो उसका उत्तर देने के लिए एक स्याद्वाद ढूंढ़ लिया । नित्य की बात कहकर कोई समस्या खड़ी हो तो उसके लिए स्याद्वाद ढूंढ़ लिया, ऐसा कोई मन में सोच सकता है । मगर यह बात सोचना गलत है क्योंकि वस्तु ही इस प्रकार है कि वह बनती है, बिगड़ती है और बनी रहती है । वस्तु बनी ही रहे, बने-बिगड़े कुछ नहीं तो बनना नहीं रह सकता । वस्तु बिगड़े ही बिगड़े, बनना कुछ न बने तो वस्तु नहीं रह सकती । वस्तु का बनना ही बनना रहे और बिगड़े कभी नहीं तो बनना ही नहीं बन सकता । तो स्याद्वादी प्रभु ! आपके सिद्धान्त में तो यह बात युक्त है, पर अन्य एकान्तदृष्टि वाले सिद्धांत में यह बात सम्भव नहीं हो सकती, इस कारण आप ही वास्तविक उपदेष्टा हैं ।

(उपजातिछन्द)

छन्द १५

शक्रोऽप्यशक्तस्तव पुण्यकीर्त्तेः स्तुत्यां प्रवृत्तः किमु मादृशोऽज्ञः ।
तथापि भक्त्या स्तुतपादपद्मो ममार्य देयाः शिवतातिमुच्चैः ।।१५।।

अन्वयार्थ—(हे आर्य !) गुणों अथवा गुणवानों के द्वारा सेव्य हे शंभव जिनेन्द्र ! **(पुण्यकीर्तेः)** पवित्र ख्याति, पवित्र वाणी अथवा पुण्यवर्धक स्तुति से युक्त **(तव)** आपकी **(स्तुत्यां)** स्तुति में **(प्रवृत्तः)** प्रवृत्त हुआ **(शक्रः अपि)** अवधिज्ञानी और समस्त श्रुत का धारक इन्द्र भी जब **(अशक्तः)** असमर्थ रहा है तब **(मादृशः अज्ञः किमु)** मेरे जैसा अज्ञानी पुरुष कैसे समर्थ हो सकता है ? यद्यपि यह बात है **(तथापि)** तो भी **(भक्त्या)** तीव्र अनुराग द्वारा **(स्तुतपादपद्मः)** स्तुत चरण-कमलों से युक्त आप **(मम)** मेरे लिये **(उच्चैः)** उत्कृष्ट **(शिवतातिम्)** यथार्थ सुख की सन्तति को **(देयाः)** प्रदान करें ।

शक्र द्वारा भी अशक्य प्रभुस्तवन के भक्तिपूर्वक उद्यम की सत्फलता—हे पवित्र कीर्ति वाले प्रभु ! आपकी स्तुति करने में इन्द्र भी असमर्थ है । इन्द्र का नाम बृहस्पति है । वाचस्पति भी है । इन्द्र बहुत विद्वान् जीव होता है । उसको बहुत ज्ञान होता है और इसीलिए वह स्वर्गों में शास्त्रसभा का अधिकारी माना गया है । जैसे यहाँ मनुष्य लोग शास्त्र पढ़ते हैं, सुनते हैं इसी प्रकार स्वर्गों में भी शास्त्र क्या होता है, मौखिक है, क्या बात है, यह बात तो अलग है, मगर वक्ता होता है, श्रोता होते हैं, धर्म की बात का व्याख्यान होता है और वह बड़ा विशिष्ट ज्ञानी होता है, ऐसा इन्द्र भी हे प्रभु ! आपकी स्तुति करने में समर्थ नहीं होता है, तब फिर आपकी स्तुति करने में हम जैसे अज्ञानी पुरुष जो प्रवृत्त हुए वह कैसे वर्णन कर सकते हैं ? तो भी आपके प्रति भक्ति होने से हम आपके चरणकमल का स्तवन करते हैं । ऐसे हे पूज्य पुरुष ! हे आर्य ! मेरे को पवित्र, बलूत, शिवसंतति को,

मोक्षमार्ग को प्रदान करो । पूरा गुणानुवाद करने में समर्थ न होकर भी मुझ को आवश्यकता है आपके गुणानुवाद की । हम नहीं कर सकते हैं गुणानुवाद, लेकिन आवश्यकता मुझे हैं कि गुणानुवाद करूँ, जितना भी कर सकूं । और वह आवश्यकता इसलिए है कि जिस मार्ग पर चलकर आपने मोक्ष प्राप्त किया वह मार्ग मुझे भी प्राप्त हो—सो हे प्रभु ! हम समर्थ तो नहीं हैं आपका स्तवन करने में तो भी भक्ति से आपका स्तवन कर रहे हैं, और केवल यही प्रयोजन रख रहा हूँ कि मेरे को उत्कृष्ट मोक्ष का मार्ग प्राप्त हो ।

(४) श्री अभिनन्दनजिनस्तवनम्

(वंशस्थछन्द)

छन्द १६

गुणाभिनन्दादभिनन्दनो भवान् दयावधूं क्षान्तिसखीमशिश्रियत् ।

समाधितन्त्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चायुजत् ।।१६।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! **(गुणाभिनन्दात्)** अनन्तज्ञानादि अन्तरङ्ग और सकल लक्ष्मी आदि बहिरङ्ग गुणों की वृद्धि होने से **(अभिनन्दन)** अभिनन्दन इस सार्थक नाम को धारण करने वाले **(भगवान्)** आपने **(क्षान्तिसखीं)** क्षमारूप सखी से सहित **(दयावधूम्)** दयारूप स्त्री का **(अशिश्रियत्)** आश्रय लिया था तथा **(समाधितन्त्र:)** धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानरूप समाधि को प्रधान लक्ष्य बनाकर **(तदुपोपपत्तये)** उसकी सिद्धि के लिये आप **(द्वयेन)** अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग के भेद से दोनों प्रकार के **(नैर्ग्रन्थ्यगुणेन)** निष्परिग्रहतारूप गुण से **(अयुजत्)** युक्त हुए थे ।

श्री अभिनन्दननाथ की समाधितन्त्रता से परम निर्ग्रन्थता का अभ्युदय—अभिनन्दन भगवान की स्तुति में आचार्य कहते हैं कि हे प्रभु अभिनंदनदेव ! गुणों के अभिनन्दन से अर्थात् गुणों के विकास से आपका नाम अभिनन्दन हुआ है, सो हे प्रभु ! आपने दयारूप वधू को आश्रय दिया, जिसकी सहेली क्षमा है । इन शब्दों से यह रहस्य आता है कि जिसमें क्षमा है वह ही वास्तव में दया पालन कर सकता है । क्षमारहित पुरुष दया का पालन नहीं कर सकता । इसी कारण यह विशेषण दिया है कि जिसकी सहेली क्षमा है, ऐसी दयारूपी वधू को आश्रय दिया । और एक विशेषण जो दिया है कि गुणों के अभिनन्दन से आपका अभिनन्दन है । इसका भी सम्बंध इस वाक्य से है कि जो गुणों के विकास में आया है, दूसरे के गुणों को महत्त्व देता है वह ही पुरुष दया को सहारा दे सकता है । ऐसे हे नाथ ! आपने दया को सहारा दिया अर्थात् आपके साथ दया रहकर शोधित हुई और इसके समर्थन में इसके ही साथ आप समाधितंत्र हुए अर्थात् समाधिभाव जिसके अधीन हुआ या जो समाधिभाव के केन्द्रित हो, नियंत्रित हो, ऐसे प्रभु ! आपने उस समाधि की उपपत्ति के लिए, दया की उपपत्ति के लिए दोनों प्रकार के नैर्ग्रन्य गुणों से अपना सम्बंध बनाया । वे दो प्रकार के नैर्ग्रन्थ्य गुण क्या हैं? बाह्य-द्रव्यलिंग और भावलिंग । वास्तव में सबसे विविक्त रहना यह है उत्कृष्ट दिगम्बरता और बाह्य में केवल शरीर मात्र रहे, अन्य किसी का लेप न हो वह है बाह्य निर्ग्रन्थता । तो दोनों प्रकार के नैर्ग्रन्थ्य गुणों को आपने अपनाया । बाहरी

निर्ग्रन्थता के बिना भीतरी नित्यता नहीं बनती । जैसे ऊपर का छिलका उतरें बिना चावल की ललायी नहीं उतारी जाती । चावल पर दो प्रकार के मल लगे हुए हैं । एक तो छिलका और दूसरा चावल पर ही लगा हुआ कुछ मल, जो टूटने पर आटे की तरह बिखर जाता है । तो चावल पर लगा हुआ भीतरी मैल था और तरह का, यह तब तक नहीं हटाया जाता जब तक कि ऊपर का छिलका न उतरे । इसी प्रकार अपने आत्मा के अंतरंग मैल को, परिग्रह को तब तक नहीं निकाला जा सकता जब तक बाह्य द्रव्यलिंग न हो । बाह्य परिग्रह का त्याग कर देते हैं और भीतरी परिग्रह नहीं छूटता । भले ही यह बात रहे मगर यह नियम है कि भीतरी परिग्रह जिनका छूटा उनको बाह्यपरिग्रह छोड़नेपूर्वक ही छूटा । ऐसा किसी के नहीं हो सकता कि बाह्य परिग्रह तो रखे और अंतरंग परिग्रह न रहे । कुछ ममता थोड़ी जाये तो उसे कहने लगते लोग कि भाई ! बाहरी परिग्रह तो लगा है, पर भीतर में कुछ ममता नहीं है, पर यह बात सत्य नहीं है । जो बाह्य परिग्रह को रखता हो, बाह्य परिग्रह में लिपटा हो उसके अंतरंग परिग्रह निश्चित है । तो आपने स्वदया और परदया के लिए दोनों प्रकार की निर्गन्थता को धारण किया ।

छन्द १७

अचेतने तत्कृतबन्धजेऽपि ममेदमित्याभिनिवेशकग्रहात् ।

प्रभङ्गुरे स्थावरनिश्चयेन च क्षतं जगत्तत्वमजिग्रहद्भवान् ।।१७।।

अन्वयार्थ—(अचेतने) अचेतन शरीर में **(च)** और **(तत्कृतबन्धजेऽपि)** उस अचेतन शरीर के द्वारा किए हुए कर्मबन्ध से उत्पन्न सुख-दु:खादिक तथा स्त्री पुत्रादि परपदार्थों में **(ममेदम्)** यह मेरा है मैं इसका स्वामी हूं **(इति)** इस प्रकार के **(आभिनिवेशिकग्रहात्)** मिथ्या अभिप्राय को स्वीकार करने से अथवा मिथ्या अभिप्राय रूप पिशाच से **(च)** तथा **(प्रभङ्गूरे)** विनश्वर शरीर आदि परपदार्थ में **(स्थावर निश्चयेन)** स्थायित्व के निश्चय से **(क्षतं)** नष्ट हुए **(जगत्)** जगत् को **(भवान्)** आपने **(तत्त्वं)** जीवादि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप **(अजिग्रहत्)** ग्रहण कराया है—समझाया है ।

पर व परभावों में ममता से तथा प्रभंगुर में स्थायिता के निश्चय से जगत् की बरबादी का आख्यान—जिनका यह बाहरी विषय अचेतन है और उन अचेतनों से बंध बना और उसके बंध से अचेतन परिग्रह लगा, इन विशेषणों से दार्शनिकता का एक भान हो रहा । दार्शनिक में ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है जो कार्य-कारणभाव को बताता चला जाये । अचेतन परिग्रह का आश्रय करने से बंध हुआ और उस ही बंध का फल फिर यह हुआ कि जो परिग्रह का आश्रय किया करे । तो ऐसे अचेतन परिग्रह में यह मेरा है ऐसे अभिप्राय का आग्रह लगा लेने से, पिशाच लग जाने से, ऐसे निमित्त को पकड़े जाने से यह संसार बरबाद हो रहा है । बरबाद हो गया, क्योंकि अचेतन परिग्रह में यह मेरा है ऐसा खोटा विकल्प जब लग गया तो क्षणभंगुर विषयों में उनके ये सदा रहेंगे ऐसा निश्चय भी बन गया अथवा दोनों ही कारण हैं जिससे कि यह जगत् बरबाद हो गया । एक तो ममता, दूसरा क्षणभंगुर वस्तु में यह सदा रहेगा ऐसा निश्चय । तो इस तरह इन दोनों कारणों से यह जगत् क्षत हो गया

। इन तत्त्वों को हे भगवान ! आपने दिखाया, आपने बताया, आपने ग्रहण कराया । कोई भी पुरुष यदि समागम में यह निर्णय रखता है कि यह तो मिट जाने वाला है तो उसको यह मेरा है इस प्रकार का भाव न रहेगा और न वह दुःख का कारण बनेगा । जिसमें ममता है, लोग भूल जाते हैं कि यह मिट जाने वाली चीज है । भले ही कोई शब्दों से कहें लोग कि जो मिला है वह सब मिट जाने वाला है, लेकिन जब तक ममता है तब तक यह तत्त्व ओझल रहता है । विश्वास यह ही बनाया कि औरों के मिटते हैं, मेरे नहीं मिटते । जैसे दूसरे का कोई इष्ट गुजर जाये तो उसे खूब समझाते हैं कि जो होना था सो हो गया, कष्ट मत करो और जब स्वयं पर गुजरे तब यह ही शब्द कहते कि यह तो अनहोनी हो गई । होना नहीं था और हो गया, इतना कठिन एक संकल्प रखते हैं । तो इन दो कारणों से; एक ममता, दूसरे क्षणभंगुर पदार्थों में ये स्थिर हैं—ऐसा निश्चय बना, इस कारण यह सारा जगत् बरबाद हो गया, ऐसा हे प्रभु ! आपने ही तो दिखाया ।

छन्द १८

क्षुदादिदुःखप्रतिकारतः स्थितिर्नचेन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः ।
ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनोरितीदमित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत् ।।१८।।

अन्वयार्थ—(क्षुदादिदुःखप्रतिकारतः) क्षुधा-तृषा आदि के दुःख का प्रतिकार करने से भोजन पान करने से **(च)** और **(इन्द्रियायार्थप्रभवाल्पसौख्यतः)** स्पर्शनादि इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न अल्प सुख से **(देहदेहिनोः)** शरीर और शरीरधारी आत्मा की **(स्थितिः)** सदा स्थिति नहीं रहती **(ततः)** इसलिये उनसे उनका कुछ **(गुणः)** उपकार **(नास्ति)** नहीं है **(इत्थम्)** इस तरह **(इदम्)** इस जगत् को **(भगवान्)** भगवान् अभिनन्दन जिनेन्द्र ने [इति] यह परमार्थ तत्त्व **(व्यजिज्ञपत्)** बतलाया है ।

देहसम्पर्क से जीव के अहित का आख्यान—क्षुधा तृषा आदिक में दुःख होता है, उसके लिए प्रतिकार लोक में करते हैं, इससे कहीं देह स्थिर नहीं रहता । अगर क्षुधा आदिक दुःखों के प्रतिकार से देह सदा बना रहे तो फिर अब तक तो इस जगत् में रहने को जगह भी न मिलती । इतने मनुष्य भर जाते कि खड़े भी न हो सकते । कितना ही कोई दुःखों का प्रतिकार करे, देह का स्वभाव है नष्ट होना, शरीर का स्वभाव है नष्ट होना । तो क्षुधा आदिक दुःखों का उपाय बनाने से कहीं देह टिक नहीं पाता और इन्द्रिय के विषयों से उत्पन्न हुआ थोड़ा-सा सुख भोगने से कोई गुण नहीं बढ़ते, आत्मा में शान्ति की वृद्धि नहीं होती । और ये दोनों ही बातें देह से सम्बंध रखती हैं । क्षुधा आदिक दुःख, उनके प्रतिकार और इन्द्रिय-विषयों का उपभोग—इन दोनों ही कारणों से न कोई गुण बढ़ते, न कोई देह में वृद्धि होती और न देह स्थिर रहता । इस कारण देह और इस प्राणी का कोई भी सम्बन्ध नही है, कुछ भी नाता रिश्ता नहीं है, ऐसा प्रभु ! आपने ही तो विज्ञप्त कराया, विशेषरूप से जानकारी इस तत्त्व की करायी । अब इन वाक्यों को सुनकर ऐसा हो सकता कि छोटी-छोटी बातों में भी भगवान को लपेटा जा रहा । आपने बताया मार्ग, आपने विज्ञप्त कराया, सो बात ठीक है । कितना ही छोटा हो, जितना भी जाना वह भगवान के शासन से ही जाना, जानकारी के बाद लगता है छोटा, मगर शुरूआत तो जैनशासन से या धर्मोपदेश से ही होना है । तो ये सब बातें जो अशान्ति को दूर करें, शान्ति को उत्पन्न करें वे

सब तत्त्व, हे प्रभु ! आपने ही बताये ।

छन्द १९

जनोऽतिलोलोऽप्यनुबंधदोषतो भयादकार्येष्विह न प्रवर्तते ।

इहाप्यमुत्राप्यनुबन्धदोषवित् कथं सुखे संसजतीति चाब्रवीत् ।।१९।।

अन्वयार्थ—(जन:) मनुष्य **(अतिलोल: अपि 'सन्')** अत्यन्त आसक्त होता हुआ भी **(अनुबन्धदोषत:)** आसक्तिरूप दोष से **(भयात्)** राजा आदि के भय के कारण **(इह)** इस संसार में **(अकार्येषु)** परस्त्री सेवन आदि अकरणीय कार्यों में **(न प्रवर्तते)** प्रवृत्त नहीं होता है फिर **(इहापिअमुत्रापि)** इस लोक और परलोक दोनों ही जगह **(अनुबन्धदोषवित्)** आसक्ति के दोष को जानने वाला मनुष्य **(सुखे)** विषयसुख में **(कथं संसजति)** कैसे आसक्त होता है यह आश्चर्य की बात है **(इति च अब्रवीत्)** हे अभिनन्दन जिनेन्द्र ! जगत् के जीवों को आपने यह भी बतलाया है ।

सांसारिक सुखों की दोषकारिता का आख्यान—अभिनंदन भगवान की स्तुति में कह रहे हैं कि इस लोक में यह मनुष्य भी विडम्बना के दोष से अकार्य में प्रवृत्ति नहीं करता । हालाकि यह लौकिक मनुष्य अत्यन्त चंचल है । इसका मन बहुत चंचल है । क्षण में कुछ विचार अच्छा लाता है, क्षण में अत्यन्त कुटिल विचार बना लेता है । अत्यंत चंचल होता हुआ संसारी प्राणी इस भय से कि लोक में अपयश न हो, अपकीर्ति न हो, विडम्बना न हो, आपत्ति न आये इस दोष से, भय के कारण से ही समझिये तो वह पाप में प्रवृत्ति नहीं करता, जो करने योग्य कार्य नहीं हैं उन अकार्यों में प्रवृत्ति नहीं करता । तो फिर भला जिसने इस लोक में और परलोक में दोनों जगह की विडम्बना की बात समझ ली हो, अनुबंध **(आसक्ति/बंधन)** दोष को जानता हुआ कि पञ्चेन्द्रिय के सुखों में रति करने से इस लोक में भी आपत्ति, परलोक में भी आपत्ति, तो ऐसे बन्धन के दोष को समझने वाला मनुष्य कैसे इन इन्द्रिय विषयों में आसक्त होगा ? ऐसा हे प्रभु ! आपने ही तो बताया । भगवान की स्तुति में भगवान के उपदेश को कहकर भगवान ने ही बताया ऐसा सम्बंध जोड़कर गुणानुवाद किया जा रहा है ।

छन्द २०

स चानुबन्धोऽस्य जनस्य तापकृत् तृषोऽभिवृद्धि: सुखतो न च स्थिति: ।

इति प्रभो लोकहितं यतो मतं ततो भवानेव गति: सतां मत: ।।२०।।

अन्वयार्थ—(स: अनुबन्ध:) वह आसक्तता **(च)** और आसक्तता से उत्पन्न होने वाली **(तृषोऽभिवृद्धि:)** उत्तरोत्तर तृष्णा की वृद्धि—दोनों ही **(अस्य जनस्य)** इस विषयातिसक्त मनुष्य के लिये **(तापकृत्)** संताप उत्पन्न करने वाली हैं **(सुखत:)** प्राप्त हुए अल्पमात्र विषय सुख से **(न च स्थिति:)** जीव को सुख से स्थिति नहीं होती अर्थात् अल्प सुख से जीव संतुष्ट नहीं होता **(इति)** इस तरह **(प्रभो !)** हे स्वामिन् **(यत:)** चूंकि **(मतं)** आपका मत **(लोकहितं)** लोक कल्याणकारी है **(तत:)** इसलिये **(भवानेव)** आप ही **(सतां)** विवेशाली सत्पुरुषों के **(गति:)** शरण **(मत:)** माने गये हैं ।

देहानुबंध से दुःख की निष्पत्ति , किन्तु प्रभुशरण से उद्धार—और ये सब अनुबंध, अनुबंध के मायने बंधन, परतंत्रता, विडम्बना, आपत्ति—ये सभी अनुबंध कहलाते हैं । तो ये सब अनुबंध इन प्राणियों के लिए संताप को करने वाले हैं और इसी अनुबंध से याने पञ्चेन्द्रिय के विषयों में संसर्ग होने से तृष्णा की वृद्धि होती है, और जहाँ तृष्णा की वृद्धि हुई कि सुख से स्थित नहीं रह सकता । जीव स्वयं अपने आप आनंदमय है, अकेला है, अपने प्रदेश में है, अपने में परिणमता है, किसी अन्य से कुछ सम्बंध नहीं है, इसको आपत्ति कहां है, लेकिन बाह्य वस्तु के प्रति जब तृष्णा का भाव जग जाता तब अज्ञान का अंधेरा छा जाता और बाह्य वस्तु के प्रति ऐसी प्रतीक्षा तृष्णा ये सब जब पार कर जाते हैं तब इस जीव की स्थिति सुख से नहीं रह सकती । ऐसे संसार के लिए हितमय उपदेश हे प्रभु ! आपने ही तो बताये, इसलिए सज्जन पुरुषों के लिए आप ही चारा हैं । जो पुरुष संसार के दुःखों से मुक्ति चाहते हैं उनके लिए आपका ही मात्र सहारा है, क्योंकि आप ज्ञानी हैं, वीतराग हैं । कोई मनुष्य मानो कदाचित् वीतराग हो और ज्ञान न हो, यद्यपि ऐसा होता नहीं, मगर लोक में जितने विरक्त माने जाते हैं, किसी को ऐसा तो विरागी हो, पर ज्ञान न हो तो उसका उपदेश भी सत्य नहीं हो पाता और किसी मनुष्य के ज्ञान बहुत हो और विरक्त न हो, विषयों में रति हो तो उसका भी उपदेश सत्य नहीं हो सकता । पर हे प्रभो ! आप सर्वज्ञ हैं, वीतराग हैं, आपका जो भी उपदेश है वह संसारी प्राणियों के लिए हितकारी है । सो आपके उपदेश में सर्व साधारण जनों को यही संदेश दिया गया है कि बाह्य पदार्थों के साथ का जो सम्बंध है, लगाव है वह तृष्णा को उत्पन्न करता है, संताप करता है और फिर उसकी सुखमय स्थिति नहीं रह सकती । जैसे किसी भी प्रसंग में नेता लोग थे, पहिली स्थिति में उनका परोपकार का भाव, कष्टों को सहने का साहस, बड़ी-बड़ी आपत्तियाँ भोगी और घर से भी उनको राग नहीं, घर भी छोड़ जेल में बसे, तो पहले कितना सुन्दर भाव था और जैसे ही उनको शासन मिला, कुछ कहीं एक आरामसा मिला तो ऐसे आराम वाले पद को पा ले, प्रतिष्ठा वाली जगह में पहुंचकर विचलित हो जाते हैं; मन फिर धन, यश की तृष्णा में बढ़ जाता है । फिर सुखपूर्वक उनको स्थिति नहीं रहती । लोक में जो सबसे अच्छा माना गया हो वह पद हो, उस पद में भी पहुंच जाये तो वह सुख से नहीं रह सकता, क्योंकि उसे भय सताता है कि भविष्य में यह पद रहेगा कि न रहेगा । अगर यह स्थिति हमारी न रही तो हमारा क्या हाल होगा? हम तो बरबाद ही होंगे । तो लोक में कोई कुछ बढ़ भी जाये तो भी सुख से स्थित नहीं होता । सुख का बीज तो केवल सम्यग्ज्ञान है, आत्मज्ञान है । मतलब नहीं किसी पर से, ऐसा चित्त में दृढ़ संकल्प हो तो आनन्द की स्थिति रह सकती है । तो प्रभु ! यह आपने ही बताया, इसलिए हे अभिनन्दन जिनेन्द्र ! आप ही सज्ञनों के लिए गति हो, चारा हो, सहारा हो ।

अब सुमतिनाथ भगवान की स्तुति करते हैं—

(५) श्री सुमतिनाथजिनस्तवनम्

(उपजातिच्छन्द)

छन्द २१

अन्वर्थसंज्ञः सुमतिर्मुनिस्त्वं स्वयं मतं येन सुयुक्तिनीतम् ।

यतश्च शेषेषु मतेषु नास्ति सर्व क्रियाकारकतत्त्वसिद्धिः ।।२१।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! **(त्वम्)** आप **(मुनिः)** प्रत्यक्ष ज्ञानी है तथा **(सुमतिः अन्वर्थ संज्ञः)** सुमति इस सार्थक संज्ञा से युक्त हैं—उत्तम बुद्धि से सहित होने के कारण आपका 'सुमति' नाम सार्थक है **(येन)** क्योंकि आपने **(सुयुक्तिनीतं)** उत्तम युक्तियों से युक्त **(तत्त्वं)** तत्त्व **(स्वयं मतं)** स्वयं स्वीकृत किया है **(च)** और **(शेषेषु मतेषु)** आपके मत से शेष अन्य मतों में **(सर्वक्रियाकारकतत्वसिद्धिः)** सम्पूर्ण क्रियाओं तथा कर्ता कर्म करण आदि कारकों की तत्त्वसिद्धि **(नास्ति)** नहीं है ।

श्री सुमतिनाथ के शासन में सिद्धिलाभ—हे प्रभो ! आपका जो सुमति नाम है वह सब अन्वर्थ है, क्योंकि आपने ही जो सुयुक्ति से समझा गया, लगाया गया या युक्ति की कसौटी पर खरा उतरने वाला मत स्वयं आपने बताया, इसलिए आप सुमति हैं । सुमति नाम है, यह नाम अन्वर्थ संज्ञा वाला है । तब ही तो देखो आपके मत में किसी भी प्रकार का पूर्वापर विरोध नहीं होता, जब कि अनेकान्त से बहिर्भूत शेष मतों में क्रियाकारक तत्त्व किसी के भी सिद्ध नहीं होता । वस्तु के स्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन किया है आपने । वस्तु अनेकान्तात्मक है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है । पहले इसी बातपर हो विचार कर लो कि कोई पुरुष उत्पाद उत्पाद ही मानता हो, ध्रौव्य न मानता हो तो कुछ भी सिद्धि वहां नहीं हो सकती । कोई केवल ध्रौव्य ही ध्रौव्य मानता हो, उत्पाद न मानता हो तो वहाँ भी कुछ सिद्धि नहीं हो सकती । कौन करे, क्या करे, किसके द्वारा करे, किसके लिए करे, कहां करें, किसी का भी उत्तर नहीं बन सकता । कोई पदार्थ है तो वह है कब कहलाये ? जब उसका कोई काम हो । अर्थक्रिया हो तो वह है । जो है वह तभी है कहलाता है जब कि उसमें अर्थक्रिया होती है, काम होता हो, परिणमन होता हो । अब कोई उत्पाद ही उत्पाद माने, व्यय साथ में लगा ही है; उत्पाद हो, नष्ट हो; फिर नया उत्पाद हो, नष्ट हो; गया, बना कुछ नहीं रहता । मूल तत्त्व कुछ नहीं है, वे स्वतंत्र-स्वतंत्र पदार्थ हैं, जितने क्षण में जब-जब जो हो, ऐसा माना जाये तो कौन करे, क्या करे? जब कोई पदार्थ दूसरे क्षण ठहरता ही नहीं तो करने वाला क्या कहलाया? किसमें बंध किया कौन मोक्ष करेगा? और जबरदस्ती लगा है कोई तो अन्याय कहलायेगा । पाप करे कोई, उसका फल भोगे कोई, क्योंकि दूसरे क्षण में वह रहा ही नहीं । पुण्य दूसरा करे, फल दूसरा भोगे; तपश्चरण कोई करे, मोक्ष कोई दूसरा पाये; यह तो कोई युक्ति पर उतरने वाली बात नहीं है । और कोई यह माने कि बस ध्रुव है वस्तु, उसमें परिणमन भी नहीं होता, हलन-चलन हेर-फेर परिणमन, बदल कुछ भी नहीं होता तो फिर संसार किसका? मोक्ष किसलिए, मार्ग में कौन चले? परिणमन होता ही नहीं है । तो जो अनेकान्त से बहिर्गत मत हैं उन मतों में क्रियाकारक तत्त्व किसी के भी सिद्ध नहीं होता और आपने जो स्याद्वाद-सम्मत सिद्धान्त बताया वह परस्पर अविरोध है और प्रमाण से प्रमाणित है इसलिए आपका नाम सुमति है, यह बिल्कुल अन्वर्थ संज्ञा है ।

छन्द २२

अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं भेदान्वयज्ञानमिदं हि सत्यम् ।
मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे तच्छेषलोपोऽपि ततोऽनुपाख्यम् ।।२२।।

अन्वयार्थ—(तदेव तत्त्वं) वही सुयुक्तिनीत तत्त्व **(अनेकं च एकं)** अनेक तथा एक रूप है । **(हि)** निश्चय से **(इदं भेदान्वयज्ञानं)** अनेक को विषय करने वाला यह भेदज्ञान और एक को विषय करने वाला यह अन्वयज्ञान **(सत्यम्)** यथार्थ है । इनमें से किसी एक को **(उपचारः)** उपचाररूप कल्पित मानना **(मृषा)** मिथ्या है क्योंकि **(अन्यतरस्य)** दो में से किसी एक का **(लोपे)** लोप—अभाव होने पर **(तच्छेषलोपोऽपि)** उससे शेष अन्य धर्म का भी अभाव हो जाता है और **(ततः)** दोनों का अभाव हो जाने से तत्त्व **(अनुपाख्यम्)** निःस्वभाव होने से अवाच्य हो जाता है ।

प्रभुशासन में सिद्धिप्रद वस्तुस्वरूपाख्यान—आपके सिद्धांत में ही कहा गया है कि वस्तु अनेक भी है, एक भी है । जैसे किसी भी एक आत्मा के बारे में, अपने बारे में सोचें—आप एक हैं या अनेक । तो जब एक मूल वस्तु पर दृष्टि दें तब कहा जायेगा कि एक है, मगर अनेकपना भी खूब देखा जा रहा है । आप सुबह कुछ थे, दोपहर कुछ हुए, शाम कुछ हुए, कभी कुछ थे, कभी कुछ हो रहे, तो यह अनेकपना भी दिख रहा है । अब कोई यह एक का ही एकान्त कर ले तो अवस्था नहीं बनती है । कोई अनेक का ही एकान्त कर ले तो किसकी अवस्था है? जब एक ही नहीं माना तो किसका परिणमन कहा जायेगा? यों भी सिद्धि नहीं होती । तत्त्व तो अनेकरूप है और एकरूप है । कुछ लोग ऐसी आशंका कर सकते हैं कि स्याद्वाद तो संशयवाद-सा है । कभी कह दिया अनेक है, कभी कह दिया एक है, और अनेक है तो एक कैसे, एक है तो अनेक कैसे? यह तो परस्पर विरुद्ध बात हैं, ऐसी आशंका रखने वालों ने यह नहीं सोचा कि एक ही दृष्टि से एक कहा जाये, एक ही उसी दृष्टि से अनेक कहा जाये, तब तो विरोध की बात है । तब तो विरोध व्याघात आदिक सभी दोष आते हैं, लेकिन भिन्न-भिन्न दृष्टियों से भिन्न-भिन्न धर्मों की सिद्धि है । लोक में भी तो देखा जाता है कि कोई पूछे कि इस सामने पड़ी बेंच का वर्णन करो तो कोई कहेगा कि यह एक फुट की है, तो क्या यह कोई विरोध की बात है? विरोध की बात तो होती कि एक ही दृष्टि के दोनों उत्तर होते हैं । एक कह रहा लम्बाई से कि चार फुट है, एक कह रहा चौड़ाई से कि एक फुट है, और इनमें से केवल एक ही माना जाये । बस हम तो यह ही जानते हैं कि यह तो चार छुट की है, तुम्हारी बात गलत है । तो बेंच का स्वरूप तो ठीक न बना । दोनों को ही सच मानना पड़ेगा । ऐसे ही जब द्रव्यदृष्टि से देखते हैं तो वस्तु एक है, पर्यायदृष्टि से देखते है तो वस्तु अनेक है । कोई कहे कि पर्याय को मत देखो, क्यों न देखो? जब वस्तु का एक सत् है कि वह प्रतिसमय परिणमता रहे, परिणमन बिना, अवस्था बिना, पर्याय बिना कोई सत्त्व रख सका क्या? अगर परिणमन नहीं है तो वस्तु नहीं है । सत् ही नहीं कुछ । तो जब परिणमन है तो परिणमनदृष्टि से निर्णय तो करना ही पड़ेगा । कोई कहे कि अनेक ही अनेक मानो, एक मत मानो तो कैसे बनेगा? जब वस्तु अनादि-अनन्त है, जो सत् है उसका समूल नाश नहीं, नवीन सत् की उत्पत्ति नहीं । जब अनादि अनन्त वस्तु है तो वह कैसे न कहा जायेगा? और अगर अनादि-अनन्त तो

परिणमन भी नहीं, अगर परिणमन नहीं तो अनादि-अनन्त वस्तु भी नहीं होती । तो यों आपके सिद्धान्त में यह ही एक-तत्त्व की बात, रहस्य की बात है कि दोनों दृष्टियों से वस्तुस्वरूप का वर्णन किया गया है, ऐसा जो भी वर्णन करे बस वही 'स्याद्वाद', जैन-सिद्धान्त है । कोई आपने सिद्धान्त कुछ सोचकर अलग से बनाया हो सो नही, किन्तु जो वस्तु का स्वरूप है, जो जैसा सत् है बस वैसा ही बताया है । यह ही तत्त्व है और यह ही सत्त्व है । सच्चाई की भी बात यही है कि वस्तु में भेद और अन्वय दोनों का ज्ञान होता है । जिसको, सिर्फ अन्वय का ही ज्ञान है मायने द्रव्य का ही ज्ञान है, अनादि-अनन्त एक तत्त्व का ही ज्ञान कर रहा हो तो वह कहलाया अन्वय ज्ञान का पक्ष, और कोई केवल पर्याय का ही ज्ञान एकांत करता हो तो वह कहलाता है पर्याय का पक्ष, पर सत्य ज्ञान तो वही है जिस ज्ञान में भेद और अन्वय दोनों का परिचय होता है । कोई कहे कि एक बात तो मान लो सच, एक बात मान लो उपचार से । तो उपचार तो मिथ्या होता है । उपचार तो वस्तु नहीं होता । यहाँ तो ये दोनों ही बातें इस प्रकार से सम्मत हैं कि उनमें से एक का लोप हो जाये तो वस्तु का विनाश हो जाता है । पर्याय नहीं तो द्रव्य नहीं, द्रव्य नहीं तो पर्याय नहीं । फिर वस्तु स्वभावरहित बन जायेगी । इस प्रकार स्याद्वाद-सम्मत तत्त्व हे प्रभो ! आपने ही बताया ।

छन्द २३

सतः कथञ्चित्तदसत्त्वशक्तिः खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम् ।

सर्वस्वभावच्युतमप्रमाणं स्ववाग्विरुद्धं तव दृष्टितोऽन्यत् ।।२३।।

अन्वयार्थ—(सतः) स्वद्रव्यक्षेत्रकालभाव की अपेक्षा सद्‌रूप जीवादि पदार्थ के **(कथञ्चित्)** किसी अपेक्षा—परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा **(असत्त्वशक्तिः)** असद्रूपता है जैसे कि **(पुष्पं)** फूल **(तरुषु)** वृक्षों पर **(प्रसिद्धं)** प्रसिद्ध हैं और **(खे)** आकाश में **(नास्ति)** नहीं है । यदि तत्त्व को **(सर्वस्वभावच्युतं)** सत्त्व और ममत्व—दोनों प्रकार के स्वभाव से च्युत माना जावेगा तो वह **(अप्रमाणं)** प्रमाण रहित हो जावेगा । हे भगवन् ! **(तव दृष्टितः अन्यत्)** तुम्हारे दर्शन के सिवाय अन्य सब दर्शन **(स्ववाग्विरुद्धं)** स्ववाणी से विरुद्ध हैं । अर्थात् स्ववचनबाधित हैं ।

स्याद्वादबहिर्मुखों के कथन की स्ववाग्विरुद्धता—हे प्रभो ! आपके सिद्धान्त में स्पष्ट कहा गया है कि जो वस्तु सत् है उस सत् पदार्थ के कथञ्चित् उसके असत्त्व की भी शक्ति है, सत्त्व में असत्त्व की भी शक्ति है । सत् के मायने जो है और असत् के मायने जो नहीं है । तो जो नहीं है उसकी भी शक्ति सबके है । इसका अर्थ क्या? तो पहली बात तो यह है कि जैसे लोग कहते हैं कि आकाश का फूल असत् है तो आकाश का फूल आकाश में नहीं है, पर फूल सर्वथा असत् तो नहीं । वह वृक्षों में प्रसिद्ध है । तो असत् में भी सत् है, सत् में भी असत् है । सत् कौन? आकाश, उसमें फूल असत् है । इस वाक्य में असत् क्या बताया? फूल । वह वृक्षों में प्रसिद्ध है । दूसरी बात सत् पदार्थों में असत् की शक्ति है । इसके मायने यह है कि जो पर्याय अभी नहीं है, असत् है उस

पर्याय की भी इसमें शक्ति है । अगर पदार्थ सर्व स्वभावों से च्युत कहा जाये तो भी अप्रमाण है और स्ववचन विरोध है और कहना चाहिए कि वह आपके सिद्धान्त से बहिर्भूत है । वस्तु में सर्व स्वभाव है, यह एक निर्णय के प्रसंग की बात है । जब कोई पुरुष अनुभव में आता है तो उस समय तो उसको नानापन न नजर आयगा, एक ही अनुभव रहेगा । तो इस तरह हे सुमतिनाथ प्रभो ! आपके सिद्धान्त में प्रमाण और नय से खरा उतरा हुआ तत्त्व प्रसिद्ध हुआ है इसलिए आपका सुमतिदेव नाम अन्वर्थ **(अनु+अर्थ)** संज्ञक है । अनु मायने अनुसार, अर्थ मायने अर्थ । अर्थ के अनुसार नाम है । जैसा शब्दों में लिखा हो, वाच्य हो वैसी ही बात पायी आये उसे अन्वर्थ कहते हैं । यद्यपि नाम निक्षेप में अन्वर्थता की कोई कैद नहीं हे । नाम तो व्यवहार के लिए रखा जाता, पर नाम न रखा जाये वस्तु का तो व्यवहार चल ही नहीं सकता । मनुष्य का नाम न हो तो कौन किससे क्या व्यवहार करे? किसे बुलाये, किससे बात कहे, क्या सम्बंध बनाये? इन अचेतन पदार्थों का नाम न रखा जाये तो कोई कैसे व्यवहार करे? किसी को अगर पानी पीना है तो बस कैसे कहे कि पानी लावो । नाम ही नहीं किसी वस्तु का तो नाम बिना कुछ नहीं चलता । जितना भी व्यवहार चलता है उस व्यवहार की शुरूवात नाम से है । नाम बिना व्यवहार नहीं, और नाम रखा जाता है तो केवल एक पुकारने के लिए । किसके बारे में बात की जा रही है? एक इस बात को कहने के लिए, जैसे किसी का नाम रख दिया शान्तिप्रसाद और उसे बना रहता हो क्रोध तो क्या उसका शान्तिप्रसाद नाम नहीं रखा जा सकता? रखा जा सकता है । नाम में कोई कैद नहीं है कि ऐसा गुण हो तो वह नाम है, लेकिन महापुरुषों की एक विशेषता है कि नाम अच्छा तो रखा ही जाता है और उसके अनुरूप वही गुण भी पाये जाते हैं । तो हे प्रभु ! ऐसे ही आपका नाम अर्थ के अनुरूप है, क्योंकि जहाँ शुद्ध मति हो और लोगों को शुद्ध मति प्राप्त हो ऐसा तत्त्व आपके यहाँ माना है और उस ही तत्त्व के अनुसार चलकर जीव मोक्षमार्ग पाते हैं और मोक्ष पाकर शाश्वत आनन्द पाते हैं ।

छन्द २४

न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति न च क्रियाकारकमत्र युक्तम् ।

नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमःपुद्गलभावतोऽस्ति ।।२४।।

अन्वयार्थ—(सर्वथा नित्यं) सब प्रकार से नित्य वस्तु **(न उदेति न अपैति)** न उत्पन्न होती है, न नष्ट ही होती है **(च न)** और न **(अत्र)** इस मान्यता में **(क्रियाकारकं युक्तम्)** क्रियाकारक भाव ही संगत होता है । क्योंकि **(असतः)** असत्—अविद्यमान पदार्थ का **(नेव जन्म)** जन्म नहीं होता और **(सतो न नाशः)** सत्—विद्यमान पदार्थ का नाश नहीं होता । यदि कहा जाये कि जलता हुआ दीपक बुझा देने पर उसमें क्या शेष रह जाता है यहां तो सत् का नाश मानना ही पड़ेगा तो उसका उत्तर यह है कि **(दीपः)** दीपक **(तमः पुद्गल भावतः अस्ति)—**अन्धकाररूप पुद्गल द्रव्य के रूप में विद्यमान रहता है ।

एकान्तवाद में क्रियाकारक की अयुक्तता का आख्यान—इससे पहले छन्द में बताया था कि जो सर्व स्वभाव से रहित है वह तो अप्रमाण है और अपने ही वचन से विरुद्ध है । कुछ भी तो कोई कहेगा वही एक स्वभाव है,

सर्व स्वभाव से सहित का कोई वर्णन नहीं कर सकता । एक सिद्धान्त है—तत्त्वोपपल्लव याने तत्त्व नहीं है, कुछ नहीं है, बस वही तत्त्व है । एक तो सिद्धान्त है तो उसने भी कुछ तो करार किया । तो अपने वचन से विरोध पड़ता है, यदि कोई ऐसा सिद्धान्त गढ़े कि सर्व स्वभाव से रहित जगत् है और ऐसा कोई कहे वह हे प्रभो ! आपके मत से भिन्न है तो आपके मत से भिन्न दृष्टि रखने वाले पुरुषों को अपने वचनों से विरोध कैसे पड़ता है? और कैसे अप्रमाण है, उसका वर्णन इस छंद में किया है । जो सर्वथा नित्य है वह न उत्पन्न हो सकता, न नष्ट । नित्य तो पदार्थ है किंतु सर्वथा नित्य नहीं याने, अवस्था भी नहीं, पर्याय भी न हो ऐसा सर्वथा नित्य नहीं है । नित्य का अर्थ है कि पर्याय का कभी विनाश नहीं होना । नपा होती ही रहे, पर्यायों का अभाव न बने, इसको नित्य कहते हैं, और इसी को सूत्र जी में भी कहा है—तद्भावाव्यय नित्य । पदार्थ के होते रहने का, व्यय न होना मायने होते रहना, जारी बना रहे, इसी को नित्य कहते हैं । तो सर्वथा नित्य कुछ नही है । कोई सर्वथा नित्य माने तो वहाँ उत्पाद-व्यय तो बना है नहीं और जब उत्पाद-व्यय न बने तो क्रियाकारक भी नहीं बन सकता । क्रिया हुई, किसने की, निश्चय से भी नहीं वन सकता । एक वस्तु अपने में क्रिया करे तो यह बात तब ही तो सम्भव है कि जब सर्वथा अनित्य न माने और जब सर्वथा नित्य माने याने अपरिणामी माने उसमें कोई अवस्था ही नहीं होती, ऐसा स्वीकार करे तो वही क्रिया और कारक नहीं बनता और जहाँ क्रिया नहीं बनती वह वस्तु नहीं । वस्तु उसे कहते जिसमें अर्थक्रिया हो । जब अर्थक्रिया नहीं, कोई परिणमन नहीं तो वह वस्तु कैसे हो सकती? इसलिए सर्वथा नित्य जो माने उनका वचन विरुद्ध-वचन है । बात वास्तविक यह है कि असत् की तो उत्पत्ति नहीं होती, और सत् का नाश नहीं होता । और जैसे यहाँ देखा जाता कि दीपक जला, अंधकार न रहा, दीपक बुझा तो अंधकार आ गया, तो यहाँ ऐसा कोई न समझे कि न था सो आ गया । अंधकार तो था ही नहीं, वह तो असत् था, अब आ गया । दीपक बुझने पर तो अंधकार और प्रकाश ये वस्तु नहीं हैं, ये तो वस्तु की पर्यायें हैं । पुद्‌गल भावरूप से सदा रहते है, यही पुद्‌गल अभी प्रकाशरूप था, अब फिर अंधकार रूप में आ गया, पर पुदगल है वह उस रूप से तो वह रहता ही है । तो इस तरह सर्वथा नित्य में अथवा सर्वथा अनित्य में क्रियाकारक नहीं बनता और जहाँ क्रियाकारक न बने वह वस्तुस्वरूप नहीं है, और जहाँ वस्तुस्वरूप ठीक नहीं समझा वहाँ मोह का त्याग कर एक निर्मोह अवस्था में आने का उपाय नहीं बनता, क्योंकि जब वस्तुस्वरूप जानते हैं—मैं आत्मतत्त्व हूँ, स्वतंत्र हूँ, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक हूँ और ऐसे ही समस्त पदार्थ हैं और उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक हैं तो, पदार्थ की स्वतंत्रता और एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ का प्रवेश नहीं, यह परिचय जब होता है तब मोह की धारा टूटती है । तो यह सब कल्याण का उच्चय **(संग्रह)** स्याद्वाद द्वारा पदार्थ का निर्णय करने में होता है और वह स्याद्वाद प्रभु ! आपने बताया ।

छन्द २५

विधिर्निषेधश्च कथंचिदिष्टौ विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था ।

इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं मतिप्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथः ।।२५।।

अन्वयार्थ—(विधिः) अस्तित्व **(च)** और **(निषेधः)** नास्तित्व दोनों ही **(कथञ्चित्)** किसी अपेक्षा से **(इष्टौ)**

इष्ट हैं । **(विवक्षया)** वक्ता से इच्छा की उनमें **(मुख्यगुणव्यवस्था)** मुख्य और गौण की व्यवस्था होती है । **(इति)** इस तरह **(इयं)** यह **(प्रणीतिः)** तत्त्व निरूपण की पद्धति **(सुमतेः तव)** आप सुमतिनाथ स्वामी की है । **(नाथ)** हे स्वामिन् ! **('त्वां' स्तुवतः 'मे')** आपकी स्तुति करते हुए मुझे **(मति प्रवेकः)** मति का उत्कर्ष प्राप्त होवे ।

सुमत शासन के शास्ता श्री सुमतिनाथ के स्तवन से मतिप्रवेक का अभ्युदय—हे सुमतिनाथ भगवान ! आपका यह सिद्धान्त है कि विवक्षा से सुरूप गुण की व्यवस्था बनती है और उसी विवक्षा से विधि **(अस्तित्व)** और नास्तित्व) निषेध कथंचित् इष्ट होते हैं । ये जीव हैं, अजीव नहीं । तो स्व का लक्ष्य करके तो जीव की विधि बनी और पर की अपेक्षा रखकर उस जीव में निषेध बना । पदार्थ नित्य है और नित्य नहीं है । तो नित्यपने की विधि बनी द्रव्य-दृष्टि से और नित्य का निषेध बना पर्याय-दृष्टि से, तो विधि और निषेध कथञ्चित् इष्ट होते हैं और कथञ्चित् विधि और गौण व्यवस्था बनती है ऐसा हे प्रभु ! आपने ही तो बताया । सो हे प्रभो ! आपका स्तवन करते हुए मेरे को मति का प्रवेग **(उत्कर्ष)** प्राप्त हो याने सुमति जगे । सुमतिनाथ भगवान का स्तवन करते हुए हमारी मति समीचीन जगे । अब पद्मप्रभ की स्तुति करते हैं ।

(६) श्री पद्मप्रभजिनस्तवनम्

(उपजातिच्छन्द)

छन्द २६

पद्मप्रभः पद्मपलाशलेश्यः पद्मालयालिङ्गितचारुमूर्तिः ।
बभौ भवान् भव्यपयोरुहाणां पद्माकराणामिव पद्मबन्धुः ।।२६।।

अन्वयार्थ—(पद्मपलाशलेश्यः) जिनके शरीर का वर्ण कमल-पत्र के समान लाल रंग का था तथा **(पद्मालयालिङ्गितचारुमूर्तिः)** जिनकी आत्मस्वरूप निर्मलमूर्ति अनन्तज्ञानादिरूप अंतरंग लक्ष्य से एवं जिनकी समस्त उत्तम लक्षणों से सहित शरीर इस मूर्ति निःस्वेदत्व आदि—पसीना के अभाव आदि रूप बाह्य लक्ष्मी से आलिङ्गित थी ऐसे **(पद्मप्रभः)** पद्मप्रभ जिनेन्द्र थे । हे जिनेन्द्र **(भवान्)** आप **(भव्यपयोरुहाणां)** भव्य कमलों के हितोपदेश रूप विकास के लिये उस तरह **(बभौ)** सुशोभित हुए थे जिस तरह कि **(पद्मकराणामिव पद्मबन्धुः)** कमल समूह के विकास के लिये सूर्य सुशोभित होता है ।

श्री पद्मप्रभदेव की यथार्थ भव्यबन्धुता—हे पद्मप्रभुदेव ! आप पद्मपलाशलेश्य हैं । कमल के पत्ते की तरह वर्ण वाले हैं । चौबीस तीर्थंकरों के देह का वर्ण बताया गया है वहाँ पद्मप्रभदेव का पद्मपलाश की तरह वर्ण बताया गया, और हे प्रभो ! आप ऐसी मनोज्ञमूर्ति हैं जो लक्ष्मी के द्वारा आलिंगित हैं । मायने स्पष्ट है, सर्वथा लक्ष्मी का दिग्दर्शन होता है आपकी सुन्दर मूर्ति में सो आपने भव्य-कमल का विकास किया । जैसे कि पद्मबंधु अर्थात् सूर्य कमलों की खान का विकास करता है अर्थात् कमलवन में सूर्य के उदय होते ही प्रफुल्लिता आ जाती है । दो प्रकार के ये फूल होते हैं—कमल और कमलिनी । कमलिनी का विकास होता है रात्रि में और कमल का विकास होता है दिन में । तो जैसे सूर्य के उदय होने पर कमल का विकास होता है ऐसे ही हे प्रभो !

आपका उदय होने पर भव्य जीवों का विकास होता है, वह अज्ञान से हटकर ज्ञान में आता है और आत्मा का विकास ज्ञानविकास ही रहता है । तो ऐसे ज्ञान की प्राप्ति आपके उपदेश से हुई, दिव्यध्वनि से हुई इस कारण नाथ ! आप भव्य-कमलों के विकास कर्ता सूर्य कहलाते हैं ।

छन्द २७

बभार पद्मां च सरस्वतीं च भवान्पुरस्तात्प्रतिमुक्तिलक्ष्मया: ।

सरस्वतीमेव समग्रशोभां सर्वज्ञलक्ष्मीं ज्वलितां विमुक्त: ।।२७।।

अन्वयार्थ—हे पद्मप्रभजिनेन्द्र ! **(भवान्)** आपने **(प्रतिमुक्तिलक्ष्म्या: पुरस्तात्)** मोक्षरूपी लक्ष्मी के पूर्व अर्थात् अरहन्त अवस्था में **(पद्माम्)** अनन्तज्ञानादिरूप लक्ष्मी **(च)** और **(सरस्वतीं)** दिव्यवाणी—दिव्यध्वनि को **(बभार)** धारण किया था अथवा **(समग्रशोभां)** समस्त पदार्थों के प्रतिपादनरूप विभूति और समवसरणादिरूप समस्त शोभा से युक्त **(सरस्वतीमेव)** दिव्य वाणी को ही धारण किया था पीछे **(विमुक्त: सन्)** समस्त कर्ममल से रहित होकर **(ज्वलितां)** देदीप्यमान—सदा उपयोगरूप **(सर्वज्ञलक्ष्मीं)** सर्वज्ञतारूप लक्ष्मी को धारण किया था ।।२।।

लक्ष्मी, सरस्वती व सर्वज्ञलक्ष्मी के आधार—हे प्रभु ! आपने मुक्तिलक्ष्मी से पहले-पहले याने जब तक निर्वाण नहीं हुआ था तब तक आपने लक्ष्मी और सरस्वती दोनों का भरण-पोषण किया । लक्ष्मी का पोषण तो यों हुआ कि समवशरण में जो शोभा होती है ऐसी शोभा किसी भी जगह सम्भव नहीं है । जैसे इन्द्र रचता है, कुबेर रचता है और इन्द्र द्वारा कुबेर जिसके प्रबंधक हैं, ऐसे एक समवशरण की शोभा अद्भुत शोभा होती है और लक्ष्मी का उत्कृष्ट विलास वहाँ पाया जाता है तो मोक्ष-लक्ष्मी पाने से पहले इस लक्ष्मी का भरण किया और सरस्वती की, भगवान के केवलज्ञान होने पर और निर्वाण न होने तक अरहंत अवस्था का यह वर्णन किया गया है कि वहाँ लक्ष्मी और सरस्वती दोनों का पोषण किया । लोग कहते हैं कि लक्ष्मी और सरस्वती का बैर है और प्राय: यह देखा जाता है कि जो विद्वान् है वह प्राय: उच्च धनिक नहीं होता और जो उच्च धनिक है वह प्राय: विद्वान् नहीं होता, इसी पर यह रूढ़ि है कि लक्ष्मी और सरस्वती का विरोध है, और हे प्रभो ! आपके पास सरस्वती और लक्ष्मी दोनों का विरोध नहीं हो सकता । तो मुक्तिलक्ष्मी प्राप्त करने से पहले तो आपने पद्मा और सरस्वती दोनों का भरण किया, और जब विमुक्त हुए, मोक्ष हुआ तब एक सरस्वती से ही जिसकी सम्पूर्ण शोभा है और सर्वज्ञलक्ष्मीरूप है उसका ही भरण किया अर्थात् मोक्ष होने पर फिर यहाँ का समवशरण विघट जाता है नहीं रहता, और स्वयं ही देहरहित हो जाते हैं । तो मुक्ति से पहले तो लक्ष्मी और सरस्वती दोनों का अविरोध रहा और मुक्त होने पर एक सरस्वती को ही आपने धारण किया जो कि प्रचलित है और सर्वज्ञ-लक्ष्मी के रूप में है ।

छन्द २८

शरीररश्मिप्रसर: प्रभोस्ते बालार्करश्मिच्छविरालिलेप ।

नरामराकीर्णसभां प्रभावच्छैलस्य पद्माभमणे: स्वसानुम् ।।२८।।

अन्वयार्थ—(बालार्करश्मिच्छविः) प्रात:कालीन सूर्य की किरणों के समान कान्ति वाले **(ते प्रभोः)** आप स्वामी के **(शरीररश्मिप्रसरः)** शरीर संबंधी किरणों के समूह ने **(नरामराकीर्णसभां)** मनुष्य और देवों से व्याप्त समवसरण सभा को **(पद्माभमणेः शैलस्य प्रभावत् स्वसानुमिव आलिलेप)** उस तरह आलिप्त कर रक्खा था जिस तरह कि पद्मरागमणि के पर्वत की प्रभा अपने पार्श्वभाग को आलिप्त कर रखती है ।

प्रभुदर्शन से नरामराकीर्णसभा की प्रभावितता—हे प्रभो ! आपके शरीर की किरणों का फैलाव ऐसा मालूम होता है जैसे कि बाल-सूर्य के किरणों की छवि हो । बालसूर्य कहते हैं— उगते हुए सूर्य को । सूर्य में बालक, वृद्ध, जवान नहीं होता, पर उदय के समय दिखता है लोगों को सूर्य का प्रारम्भ इसलिए उसे कहते हैं बालसूर्य, और जैसे प्राय: बालसूर्य की छवि लालिमा युक्त रहती है ऐसे ही हे प्रभो ! आपके शरीर की किरणों का फैलाव हुआ, और आपके इस शरीर की किरणों के फैलाव में देव और मनुष्यों से भरी हुई सभा को लीप दिया, अर्थात् इस प्रभा का प्रभाव मनुष्य और देवों की सभा पर पड़ा । जैसे कि पद्मा मणि वाले पर्वत की जो उपत्यका **(तलहटी)** है याने पर्वत में जो एक भारखण्ड से होते हैं । जैसे कि किसी विशाल पर्वत को देखकर बहुत दूर से ऐसा लगता है कि यहाँ तक यह इतना गया, इतना चौड़ा और यहाँ सीढ़ी-सी हो गई पहलेसे, और यह दूसरा हिस्सा हो गया । तो जहाँ पर्वत को शोभित कर देती है वहाँ पर्वत पर रहने वाली मणि उन मणियों को जैसे पर्वत का तटभाग और उन तटों के खण्ड जैसे शोभित हो जाते हैं ऐसे ही हे प्रभो ! आपके शरीर की किरणों के फैलाव में प्रभा से लिप गए मनुष्य और देवों की सभा अर्थात् आपके शरीर का वर्ण एक बालसूर्य की लालिमा की तरह है और इतनी वह मनोज्ञ प्रभा है कि जिस प्रभा के बीच देव और मनुष्यों की सभा बड़ी शोभित होती है ।

छन्द २९

नभस्तलं पल्लवयन्निव त्वं सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारैः ।

पादाम्बुजैः पातितमारदर्पो भूमौ प्रजानां विजहर्थं भूत्यै ।।२९।।

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र ! (पातितमा दर्पः) कामदेव के गर्व को नष्ट करने वाले **(त्वम्)** आपने **(सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारैः)** सहस्रदल कमलों के मध्य में चलने वाले अपने **(पादाम्बुजैः)** चरण-कमलों के द्वारा **(नभस्तलं)** आकाश तल को **(पल्लवयन्निव)** पल्लवों से युक्त जैसा करते हुए **(भूमौ)** पृथ्वी पर स्थित **(प्रजानां विभूत्यै)** प्रजाजनों की विभूति के लिये **(विजहर्थं)** विहार किया था ।

नभस्थल में सर्वत्र प्रजा के हर्ष के संभावकं—हस्त-पत्ते वाले जो कमल हैं सो जब आप विहार करते हैं तो ऐसा मासूम होता है कि आपने आकाश-फूल को पल्लवित कर दिया याने पत्ते वाले बना दिया । कहीं आकाश के फूल हुआ करते हैं ? लेकिन आपके विहार ने आकाश को फूल वाला बना दिया ऐसा मानो आपने इस आकाश को ही हर्षित कर दिया और इस चरणकमल के द्वारा इस भूमि पर प्रजाजनों को हर्षित कर दिया याने ये प्रजागण आपके दर्शन पाकर मोह के दर्प को दूर करते हैं, और वे स्वयं एक आत्मवैभव के लिए विकसित हो जाते हैं । तो आपने वहाँ आकाश को विकसित किया, यहाँ भव्य जीवों को विकसित किया अर्थात् लक्ष्मी और

सरस्वती दोनों का फैलाव बराबर रहा । सरस्वती के फैलाव का प्रभाव तो पड़ा संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर और आपकी लक्ष्मी का प्रभाव जैसे समवशरण में थे तो विहार करते समय भी बराबर रहा । ऐसे हे प्रभु ! आप अद्भुत लक्ष्मी से समृद्ध हो ।

छन्द ३०

गुणाम्बुधेर्विप्रुष मप्यजस्रं नाखण्डल: स्तोतुमलं तवर्षे ।

प्रागेव मादृक् किमुतातिभक्ति मां बालमालापयतीदमित्थम् ।।३०।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! **(ऋषे:)** समस्त ऋद्धियों के निधान-स्वरूप **(तव)** आपके **(गुणाम्बुधे:)** गुणरूप सागर की **(विप्रुषमपि)** एक बूंद की भी **(अजस्रम्)** निरन्तर **(स्तोतुं)** स्तुति करने के लिये जब **(आखण्डल:)** इन्द्र **(प्रागेव)** पहले ही **(अलं न)** समर्थ नहीं हो सका है तब **(मादृक)** मेरे जैसा असमर्थ मनुष्य **(किमुत)** कैसे समर्थ हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता । **(अतिभक्ति:)** यह तीव्र भक्ति ही **(मां बालं)** मुझ अज्ञानी से **(इत्थं)** इस तरह **(इदं)** इस स्तवन को **(आलापयति)** कहला रही है ।

प्रभुगुणध्यान से हुई अतिभक्ति प्रभुस्तवन में कारण—पद्मप्रभु भगवान की स्तुति में कह रहे हैं कि हे ऋषि ! ऋषि कहते हैं महान, सम्पन्न आत्माओं को । हे प्रभो ! ऐसे महान सम्पन्न इन्द्र भी जिसमें महान गुणों का पिटारा है वह भी तुम्हारी स्तुति करने में समर्थ नहीं है तब फिर हम लोग तो पहले से ही असमर्थ हैं, लेकिन कोई आशंका करे या मानो भगवान ही स्वयं पूछ बैठें कि जब असमर्थ हो तो स्तुति करने आये क्यों? तो स्तुति का कारण यह है कि आपके प्रति जो तीव्र भक्ति है वह भक्ति मुझ बालक को इस प्रकार आलाप कराती है अर्थात् स्तवन के रूप में सबसे बलवान है । इस छंद में इस बात का दिग्दर्शन कराया कि प्रभु भगवान अनन्त गुण सम्पन्न हैं । ऐसे अनेक गुणों से सम्पन्न इन्द्र भी बहुत निरन्तर स्तवन करते रहे तो भी स्तवन करने में समर्थ नहीं । फिर स्तुति करते हैं तो क्यों? स्तुति कोई नहीं करता प्रभु की । प्रभु के गुणों का कोई स्तवन भी नहीं कर सकता, लेकिन प्रभु के प्रति जो तीव्र भक्ति है वह स्तवन कराती है सो उस ही भक्ति में इस प्रकार का यह स्तवन किया जा रहा है । अब सुपार्श्वनाथ भगवान की स्तुति करते हैं ।

(७) श्री सपार्श्वजिनस्तवनम्

(उपजातिच्छन्द)

छन्द ३१

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां स्वार्थो न भोग: परिभङ्गुरात्मा ।

तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशान्तिरितीदमाख्यद्भगवान्सुपार्श्व: ।।३१।।

अन्वयार्थ—(यत् आत्यन्तिक स्वास्थ्यम्) जो अविनाशी स्वरूपलीनता है **(एष)** यही **(पुंसां)** जीवात्माओं का **(स्वार्थ:)** निजी प्रयोजन है **(परिभङ्गुरात्मा)** क्षणभङ्गुर **(भोग:)** भोग **(स्वार्थ: न)** निजी प्रयोजन नहीं है । **(तृष:)** उत्तरोत्तर भोगाकाङ्क्षा की **(अनुषङ्गात्)** वृद्धि से **(न च तापशान्ति:)** ताप की शान्ति नहीं होती है **(इति इदम्)** इस प्रकार यह विवेक **(भगवान सुपार्श्व:)** विशिष्टज्ञानी सुपार्श्वनाथ ने कहा है ।

श्री सुपार्श्वनाथ जी के शासन में वास्तविक स्वास्थ्य में ही कल्याणलाभ का आख्यान—हे सुपार्श्वनाथ भगवान ! आप ही ने तो यह सब बताया । सुपार्श्वनाथ भगवान ने ही तो यह सब आख्यान किया कि इस आत्मा का वास्तविक स्वार्थ क्या है? जगत् के सभी जीव स्वार्थपूर्ति में लिप्त रहा करते हैं । तो वास्तव में इस आत्मा का स्वार्थ है क्या? तो स्वार्थ है आत्यंतिक स्वास्थ्य हो जाना, सदा के लिए भरपूर अपने आत्मा में मग्न हो जाना—यही वास्तव में आत्मा का स्वार्थ है । ये भोग-विषय स्वार्थ नहीं, क्योंकि ये सब भोग क्षणभंगुर हैं । जो क्षणिक है वह कैसे चाहने योग्य हो सकता और कैसे वह हित करने वाला हो सकता ? और अपने आत्मा में अपने आपकी जो मग्नता है वह तो सदा के लिए रहती है इसलिए वास्तविक स्वार्थ तो आत्यंतिक स्वास्थ्य है । स्वास्थ्य की सब महिमा बोला करते हैं पर वास्तविक स्वास्थ्य क्या है, वह स्वास्थ्य शब्द ही बताता है? 'स्वस्मिन् तिष्ठ: इति स्वास्थ्य: ।' 'स्वस्थं भव: स्वास्थ्यं,' अपने आत्मा में जो ठहरे उसे कहते हैं स्वस्थ और स्वस्थ के भाव का नाम है—स्वास्थ्य । तो सही स्वास्थ्य हो, यही आत्मा का प्रयोजन है, कल्याण है, स्वास्थ्य है ।

इन्द्रियविषयों से संतापशान्ति की असंभवता का आख्यान—ये इन्द्रिय के विषय स्वास्थ्य नहीं, क्योंकि ये क्षणभंगुर हैं और फिर इन भोगों के प्रसंग में तृष्णा का सम्बन्ध बनता है, इस कारण संताप की शान्ति भी नहीं होती । इसलिए आत्मा का स्वास्थ्य वास्तव में स्वास्थ्य है, पर इन्द्रियविषय नहीं । लोग तीन-चार प्रकार के होते हैं—एक तो ऐसे कि जो थोड़े से उपदेश के सुनने से अपना पंथ अपना लेते हैं, कुछ लोग ऐसे होते हैं कि कुछ इन्द्रिय-विषयों का प्रसंग पाकर फिर बुद्धि ठीक बनती है तो हितपंथ अपनाते हैं । कुछ विशेष भोगकर हितपंथ अपनाते हैं । कोई भोग-भोग में ही आसक्त रहकर मर जाते फिर भी हितपंथ नहीं अपनाते । जैसे एक कथानक है कि एक भंगिन मल का टोकना लिए जा रही थी तो एक सज्जन ने बड़ा स्वच्छ सफेद तौलिया भंगिन को दे दिया इसलिए कि वह टोकना ढक ले ताकि लोगों को परेशानी न हो । तो जब वह मार्ग से गुजर रही थी तो तीन चार लोगों ने यह सोचा कि इस टोकनी में कोई बढ़िया चीज होगी तब ही तो अच्छे कपड़े से ढके है, तो पीछे लग गए । वहाँ भंगिन कहने लगी कि तुम लोग क्यों पीछे लगे हो? इस टोकनी में तो मल भरा है । उसकी बात सुनकर एक पुरुष लौट गया । तीन पुरुष अभी भी पीछे लगे रहे । भंगिन ने फिर कहा—भाई ! तुम लोग क्यों पीछे लगे हो? इस टोकने में तो मल भरा है । तो वे बोले—तुम बहकाती हो, हमें खोलकर दिखा दो, जब देख लेंगे तब लौटेंगे । भंगिन ने टोकना खोलकर दिखा दिया तो उनमें से एक पुरुष लौट गया । दो पुरुष अभी भी पीछे लगे रहे । फिर भंगिन ने कहा—भाई ! इस टोकने में मल है, क्यों पीछे लगे हो? तो उन दोनों ने कहा—हम तो अच्छी तरह से सूँघ-सांघकर खूब परख कर लेंगे तब तुम्हारी बात ठीक समझेंगे । आखिर वैसा ही किया तब उन दोनों में एक पुरुष लौट गया । एक पुरुष अभी भी पीछे लगा रहा । उसकी समझ में न आया । तो कुछ लोग ऐसे होते हैं कि जो जिन्दगी भर विषय-भोगों में लगे रहते हैं और बड़ी बुरी तरह से मृत्यु

पाते हैं; उनका उद्धार नहीं होता । यह भोगों का प्रसंग ऐसा ही है कि कोई अगर सोचे कि हम थोड़ा सुख भोग लें, पीछे त्याग देंगे तो वह त्याग नहीं सकता, क्योंकि थोड़ा सुख भोगे तो उसे तृष्णा का सम्बन्ध बनेगा, फिर संताप की शान्ति हो नहीं सकती । तो प्रभु का यह रहस्य कि जिसको हित की चाह हो, वह यह विचार न बनाये कि हम इतना सुख पा लें, पीछे छोड़ेंगे । जो ऐसा ख्याल बनायेगा वह छोड़ नहीं सकता । और जो इन विषयों में लगे भी, लेकिन आपत्ति समझे, एक विडम्बना जाने और उसके त्याग की भावना रखे वह तो इसे छोड़ सकता है, किंतु जो ऐसा ही विचार बनाये कि कुछ दिन भोगकर छोड़ेंगे, उसके छोड़ने का अवसर नहीं आ पाता । ऐसा रहस्य हे सुपार्श्वनाथ भगवान ! आपने ही तो आख्यान किया ।

छन्द ३२

अजङ्गमं जङ्गमनेययन्त्रं यथा तथा जीवधृतं शरीरम् ।
बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च स्नेहो वृथात्रेति हितं त्वमाख्यः ।३२।।

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार **(जङ्गमनेययन्त्रं)** गतिशील मनुष्य के द्वारा चलाया जाने वाला यन्त्र स्वयं **(अजङ्गमं)** गतिरहित होता है **(तथा)** उसी तरह **(जीवधृतं)** जीव के द्वारा धारण किया हुआ **(शरीरं)** शरीर स्वयं **(अजङ्गमं)** गतिरहित है—जड़ है । साथ ही यह शरीर **(बीभत्सु)** घृणित **(पूति)** दुर्गन्ध से युक्त **(क्षयि)** विनश्वर **(च)** और **(तापकं)** संताप उत्पन्न करने वाला है इसलिये **(अत्र)** इस शरीर में **(स्नेहः)** अनुराग करना **(वृथा)** व्यर्थ है **(इति)** यह **(हितं)** हितकारक वचन **(त्वम्)** हे सुपार्श्व जिन ! आपने **(आख्यः)** कहा है ।

अनेक दोष-परिपूर्ण देह में स्नेह की व्यर्थता का आख्यान—यह देह क्या है? अजङ्गम है, जैसे कि ईंट-पत्थर ये अजङगम हैं, चल-फिर नहीं सकते, हिल-डुल नहीं सकते, ऐसे ही यह देह भी ईंट-पत्थर की भांति अजङ्गम है । यह हिलता-डुलता नहीं, लेकिन हिल-डुल तो रहा । लोग देखते तो हैं । तो कहते हैं कि यह जङगम यंत्र है जैसे मोटर कैसे हिले-डुले, पर ड्राइवर के द्वारा चलाई जाये तो चलती है । तो ऐसे ही इस देह में जो ड्राइवर है, जीव है, आत्मा है उसके संसर्ग से यह प्रभाव है कि यह चलता है । यहाँ से वहाँ जाया जाता है । तो जैसे-—कोई अजङ्गम पदार्थ है तो जंगम के द्वारा लाया जाता है ऐसे ही यह शरीर है, यह जीव के द्वारा धारण किया गया । यह भी जीव के सम्बंध तक ही हिलता-डुलता है । जीव का संसर्ग न रहे तो पड़ा रहता है, सड़ता है, लोग जला देते हैं । यही कुछ ऐसा सोचना चाहिए कि आखिर जिस देह में हम बस रहे हैं और जिस देह के संसर्ग के आधार पर हम हर्ष-विषाद, शत्रुता-मित्रता, यश, लोभ आदिक किया करते हैं यह देह तो यहीं रहेगा, सड़ेगा, जलेगा, लोग इसे पसंद न करेंगे । ऐसे असार शरीर के पीछे अपना अकार्य करना, खोटे विचार बनाना यह युक्त नहीं है; यह तो अजङ्गम है और इतने पर भी जैसे कि अन्य पदार्थ कुछ देखने में भले तो लगते हैं, पवित्र तो होते हैं, जैसे मोटर आदिक, इनमें क्या गंदगी है, लेकिन इस यंत्र में तो बड़ी गंदगी भरी है । भयानक है, इसकी भयानकता का दृश्य तब एकदम सामने आता कि जब अति वृद्ध अवस्था होती है और शरीर का ढांचा एकदम बिगड़ जाता है । तो देखने वाले लोग या बच्चे भी कभी-कभी डर जायें, ऐसा यह भयानक शरीर है । और इतनी ही बात नहीं, किन्तु यह अपवित्र है, दुर्गन्धित है, जिस पर तेल लगाये तो तेल भी

दुर्गन्धित हो जाये, कपूर चन्दन आदिक का लेप करे तो वह भी अपवित्र बन जाये, ऐसा यह अपवित्र गंदा शरीर है, और इतना ही नहीं, इतना होते हुए भी यह विनाशीकशील है । कोई सोचे कि अपवित्र रहने दो, भयानक रहने दो, पर जितनी देर इस देह की सेवा है, खुशामद है, खाता-पीता है तब तक कुछ सुख तो मिलता है, सो इतनी भी बात नहीं । यह तो विनाशीक है । कोई कहे कि विनाशीक रहने दो । जब तक देह है तब तक तो सुख रहेगा । तो कहते हैं कि नहीं, यह तो संताप करने वाला है ।

सद्‌बुद्धि की शरण्यता—इस जीव का शरण सद्‌बुद्धि है । सद्‌बुद्धि नहीं है तो यह जीव इस संसार में रुलता है, भटकता है, दुःख भोगता है । इसको विपत्ति से बचाने वाली बूटी सद्‌बुद्धि ही है । सद्‌बुद्धि का मूल्य तीन लोक के वैभव के संग्रह से भी अधिक है । वैभव में क्या है? एक कल्पना कर लिया कि यह मेरा है, खुश हो रहे हैं । वैभव से खुशी तो नहीं आती, यह तो अपनी कल्पना बनायी और सुखी होता है । सो भी वैभव से सुख कहां? कितनी चिन्तायें, पति के विकल्प, कितने भय । केवल एक अज्ञानी गरीब इस वैभव की चाह करते हैं । और वह मिला है इसे तो इस अहंकार से थोड़ा खुशी मानता है, लेकिन सुख कहां, खुशी कहाँ? और जिसके दुर्बुद्धि है वह तो गया बीता है । जीव का शरण है तो सद्‌बुद्धि है । यह तो संताप करने वाला है, इसमें सन्देह करना व्यर्थ है । ऐसे हे प्रभु ! हितकारी वचन आपने ही तो कहे ।

छन्द ३३

अलङ्घ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्य लिङ्गा ।

अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादी ।।३३।।

अन्वयार्थ—(हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा) शुभ-अशुभ कर्म अथवा बाह्य और अभ्यन्तर दोनों कारणों से उत्पन्न होने वाला कार्य ही जिसका लिङ्ग—ज्ञापक है ऐसी **(इयं)** यह **(भवितव्यता)** भवितव्यता—होनहार **(अलङ्घ्यशक्तिः)** अलङ्घयशक्ति है—किसी भी तरह टाली नहीं जा सकती । तथा भवितव्यता की अपेक्षा नहीं रखने वाला **(अहंक्रियार्तः)** अहंकार से पीड़ित हुआ **(जन्तुः)** संसारी प्राणी **(संहत्य)** अनेक सहकारी कारणों से मिलकर भी **(कार्येषु)** सुख-दुःखादि कार्यों में **(अनीश्वरः)** असमर्थ है । हे सुपार्श्व जिनेन्द्र ! आपने **(इति)** यह **(साधु)** ठीक ही **(अवादीः)** कहा है ।

वस्तुस्वतंत्रता के कारण पर में कुछ किया जाना अशक्य होने से संसारी प्राणी की अनीश्वरता होने पर अहंक्रियार्तता का आख्यान—हे प्रभु ! आपने यह बिल्कुल उत्तम कहा, क्या कि यह जो होनहार है, यह अलङ्घ्यशक्ति है, इसका उल्लंघन किया जाना कठिन है । तो यह होनहार बनता कैसे है? तो दोनों प्रकार के हेतुवों से कार्य बनता है, ऐसा जिसका चिह्न है वह होनहार दुर्निवार है । कार्य होने में दो कारण हुआ करते हैं—**(१)** उपादान और **(२)** निमित्त । उपादान तो कहलाता है वह कारण, जिसमें परिणमन होता है और निमित्त वह कारण कि जिसके न होने पर कार्य की सम्भवता नहीं होती । सो कार्य तो इसी प्रकार होते । भले ही अवधिज्ञानियों ने जाना, महापुरुषों ने जाना कि अमुक दिन यह होगा । जैसा होगा वैसा झलका तो कहीं ऐसे ही नहीं झलक गया । उपादान और निमित्त इन दोनों हेतुवों के प्रसंगसहित जिस-जिस ढंग से जो कार्य होगा,

होता है, वह जाना गया तो यह भवितव्यता, जो दोनों कारणों से सम्पादित है । अभेद से तो उपादान में कार्य है और जिसकी अनुपस्थिति में सम्भव नहीं होता उस दृष्टि से निमित्त द्वारा सम्पादित है । ऐसा यह भवितव्यता, होनहार, यह अलङ्घ्य है, लेकिन यह संसार का प्राणी मैं कर दूंगा, इस प्रकार ऐसे अहंकार के भाव से पीड़ित होकर यह दु:खी रहता है । यह ईश्वर तो है नहीं, समर्थ तो है नहीं कि जैसा यह चाहे वैसी ही बात सामने आये । यहाँ कोई ऐसा सोच सकता कि कोई पुरुष मोक्षमार्ग में लगना चाहे तो लग तो जाता है, आत्म-कल्याण चाहे तो कर तो लेता है । सो वास्तविक सूक्ष्मता तो यह है कि जब तक चाह है तब तक कल्याण नहीं हो रहा । और जब वह चाह नहीं रहती तब उसका कल्याण है । और फिर इस चाह में अहंकार तो नहीं बसा हुआ है । अहंकार कहते हैं उसे कि जो अहं तो नहीं है, पर विकल्प में अहं कर देवे । मैं को मैं करे उसे कहते हैं अहंकार । तो ऐसे अहंकार से पीड़ित हुआ प्राणी यह मुनीश्वर असमर्थ होता हुआ नष्ट हो रहा है । कार्यों में लग-लगकर बरबाद हो रहा है, ऐसा हे नाथ ! आपने ही तो यथार्थ कहा । यह भगवान को स्तुति हो रही है भगवान के गुण का स्मरण करते हुए—

छन्द ३४

बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो नित्य शिवं वा ij छति नास्य लाभ: ।

तथापि बालो भयकामवश्यो वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादी: ।।३४।।

अन्वयार्थ—यह जीव **(मृत्यो:)** मरण से **(बिभेति)** डरता है परन्तु **(तत:)** उससे **(मोक्ष:)** छुटकारा **(न अस्ति)** नहीं है **(नित्यं)** सदा **(शिवं)** कल्याण अथवा निर्वाण की **(वाञ्छति)** इच्छा करता है परन्तु **(अस्य लाभ: न)** इसकी प्राप्ति नहीं होती **(तथापि)** फिर भी **(भयकामवश्य:)** भय और काम के वशीभूत हुआ **(बाल:)** अज्ञानी प्राणी **(स्वयं)** स्वयं ही **(वृथा)** निष्प्रयोजन **(तप्यते)** दु:खी होता है । हे भगवन् **(इति)** यह आपने **(अवादी:)** कहा है ।

मृत्युभयग्रस्त तथा सुखकामनाग्रस्त प्राणी के संताप का आख्यान—यह संसारी प्राणी मृत्यु से तो डरता है, पर डरने से कहीं मृत्यु से मुक्ति नहीं हो जाती, मृत्यु से छुटकारा नहीं बनता, बल्कि जो कारण से डरता है उसके विकल्प और बंधन होने से उसको तो मृत्यु मिलती रहेगी । जिसे कहते हैं—जन्म मिलते रहेंगे । तो जन्म के साथ मृत्यु भी है । मृत्यु मिलती ही रहेगी जो मृत्यु से डरेगा । तो यह प्राणी मृत्यु से डरता है तो इससे कहीं मृत्यु से छुटकारा नहीं होता और यह सदा कल्याण को चाहता है, सुख चाहता है । तो सुख चाहने मात्र से सुख से लाभ नहीं होता । बल्कि सुख की याद में सुख है ही नहीं । जब जब किसी वस्तु के विषय में चाह है तो चाह के सम्बन्ध में तो सुख है ही नहीं । चाह पीड़ा है, चाह के समय में न वस्तु है, न भोग है, न सुख है । तो सुख की चाह से कहीं सुख की प्राप्ति नहीं होती । तो भी यह बालक, यह अज्ञानी भव और काम के वशीभूत होता हुआ व्यर्थ ही स्वयं संताप सह रहा है । भय और चाह—ये दो ही जीवों के दु:ख के हेतु हैं, इसका समर्थन कृत छंद में किया है । जितने भी कष्ट मान रहे हैं उन सबमें ये दो बातें पायी जा रही हैं-डर और आशा । मृत्यु से डर और सुख की आशा । इसके साथ-साथ और भी बातें लगा सकते । धनवैभव आदिक न मिट जाये ।

इसका डर और इसकी वृद्धि हो, बढ़वार हो इसकी आशा । यह इतना आशा में व्यग्र है, बाह्य पदार्थों के करने के लिए इतना धुन में लगा हुआ है कि जिसे नीतिकारों ने यों कहा कि मैं करूगा करूँगा करूँगा, यह तो खूब चिन्तन किया इस जीव ने, पर मैं मरूँगा मरूँगा मरूँगा, यह बात यह बिल्कुल भूल गया । ''करिष्यामि करिष्यामि करिष्यामि इति चिन्तितं । मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामि इति विस्मृतं ।।'' केवल एक ही धुन रखी—करूगा यह करता है, करने चलो । तो करने-करने का तो चिन्तन किया, पर इस जीव ने अपने मरण का चिन्तन नहीं किया । लोग तो कहते हैं कि मरण की बात कहना असगुन है, पर वास्तव में मरण की बात कहना सत् है । यदि मरण की बात सगुन न होती तो मुर्दे को देखने में सगुन क्यों मानते? लौकिक जन भी मरण की बात जब चित्त में आती है तो पाप से दिल हट जाता है और अच्छे कार्यों के लिए, धर्ममार्ग के लिए चित्त चलता है । धर्मसाधना वही कर सकता है जो यह निर्णय किए बैठा है कि मृत्यु तो मेरे सिर पर बैठी है, मृत्यु ने तो मेरे केशों को जकड़ रखा है, कभी भी हिला दे और इस जीव को देह से जाना पड़ेगा । ऐसी बात जिसके चित्त में है, धर्मसाधना उससे बन सकती है और जिसने अपनी मृत्यु को भुला दिया और मैं रहूंगा, ऐसा ही निर्णय कर लिया उससे धर्मसाधन नहीं होता । तो जो लोग मृत्यु से डरते हैं या जो विषय-सुखों की आशा रखते हैं वे बालकवत् अज्ञानी हैं और इन्हीं दोषों के कारण संताप सह रहे हैं, ऐसा हे प्रभु ! आपने ही तो बताया ।

छन्द ३५

सर्वस्य तत्त्वस्य भवान्प्रमाता मातेव बालस्य हितानुशास्ता ।

गुणावलोकस्य जनस्य नेता, मयापि भक्तया पुरिणूयसेऽद्य ।।३५।।

अन्वयार्थ—(भवान्) आप **(सर्वस्य तत्त्वस्य)** समस्त जीवादि पदार्थों के **(प्रमाता)** संशयादि रहित ज्ञाता हैं, **(बालस्य)** सन्तान को **(मातेव)** माता के समान **(बालस्य)** अज्ञानी जनों को **(हितानुशास्ता)** हित का उपदेश देने वाले हैं और **(गुणावलोकस्य जनस्य)** सम्यग्दर्शनादि गुणों का अन्वेषण करने वाले भव्यसमूह के **(नेता)** सन्मार्गदर्शक हैं अंत: **(अद्य)** आज(**मयापि)** मुझ समन्तभद्र के द्वारा भी हे सुपार्श्वजिनेन्द्र ! **(त्वम्)** आप **(भक्त्या)** भक्तिपूर्वक **(परिणूयसे)** मन, वचन, काय से स्तुत हो रहे हैं—मैं मनसा वाचा कर्मणा आपकी स्तुति कर रहा हूं ।

प्रमाता व हितानुशास्ता का सभक्ति स्तवन—सुपार्श्वनाथ भगवान की स्तुति में आचार्य कह रहे हैं कि हे प्रभो ! आप समस्त तत्त्वों के प्रमाता हैं । प्रमाता कहते हैं जानने वाले को, प्रमाण करने वाले को । सम्यक् प्रकार से जानने वाले का नाम है प्रमाता । आप समस्त तत्त्वों के प्रमाता हो और माता की तरह बालक के हित का उपदेश करने वाले हो । जैसे माता बालक के लिए हित का ही उपदेश करती है, माता का और बच्चे का ऐसा ही अनोखा सम्बंध है कि अनेक कष्ट सहकर भी, अनेक दु:ख भोग कर भी माता बच्चे का हित ही चाहती है । तो जैसे माता बच्चे के लिए हित का उपदेश करती है उसी प्रकार आप भी इस जगत् के लिए हित का उपदेश करते हैं । एक है जगत् की माता और यह है प्रमाता । माता का अर्थ है—प्रमात करने वाली, मानने वाली, ठीक-ठीक समझने वाली और उसमें प्र उपसर्ग लग गया तो बन गया प्रमाता । प्रमाता का अर्थ है—प्रमाण करने वाला ।

सो हे प्रभु ! आप इन गुणावली के मनुष्यों के नेता हो । जितने भी जन गुण पसंद करने वाले हैं, गुणदृष्टि वाले हैं उन सब मनुष्यों के आप नेता हो अर्थात् आप गुणों में परिपूर्ण हो और जो गुणों की खोज में रहने वाले हैं, गुणों की ही दृष्टि रखने वाले हैं उन मनुष्यों के आप नेता हो, सो आप मेरे द्वारा भी भक्ति से आज स्तवन किए जा रहे हो । इसमें तीन बातों पर प्रकाश डाला है । एक तो भगवान् समस्त तत्त्वों के प्रमाण करने वाले हैं, जानने वाले हैं । इसमें तो सर्वज्ञता सिद्ध हुई और हित का उपदेश करने वाले हैं इससे हितोपदेशिता सिद्ध हुई और गुणदृष्टा पुरुषों के लिए आप नेता हैं । नेता वही हो सकता जो गुणसम्पन्न हो, और गुण तब हो प्रकट होते जब कर्म-आवरण का विनाश किया हो । तो हे प्रभु ! आप गुणावली के मनुष्यों के नेता हो सो मेरे द्वारा आप स्तवन किए जा रहे हो, अब चन्द्रप्रभु भगवान की स्तुति करते हैं ।

(८) श्रीचन्द्रप्रभजिनस्तवनम्

(उपजातिच्छन्द)

छन्द ३६

चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तम् ।

वन्देऽभिवन्द्यं महतामृषीन्द्रं जिनं जितस्वान्तकषायबन्धम् ।।३६।।

अन्वयार्थ—मैं **(चन्द्रमरीचिगौरं)** चन्द्रमा की किरणों के समान गौर वर्ण **(जाति)** संसार में **(द्वितीयं चन्द्रामिव क्रान्तं)** दूसरे चन्द्रमा के समान सुन्दर, **(महतां)** इन्द्र आदि बड़े-बड़े जनों के **(अभिवन्द्यं)** वन्दनीय, **(ऋषीन्द्रं)** गणधरादि ऋषियों के स्वामी **(जिनं)** कर्मरूप शत्रुवों को जीतने वाले और **(जितस्वान्तकषायबन्धम्)** अपने विकारीभाव-स्वरूप कषाय के बन्धन को जीतने वाले **(चन्द्रप्रभं)** चन्द्रमा के समान कान्ति के धारक चन्द्रप्रभ नामक अष्टम तीर्थङ्कर को **(वन्दे)** वन्दना करता हू ।

शान्ति के कारणभूत श्री चन्द्रप्रभदेव का अभिवन्दन—मैं चन्द्रप्रभ भगवान को नमस्कार करता हूँ । इतना स्तवन करने के बाद नमस्कार का शब्द यहाँ दिया है । कैसे हैं चन्द्रप्रभ? चन्द्रमा के किरणों की तरह गौर वर्ण वाले हैं । चन्द्रप्रभ भगवान को श्वेत वर्ण वाला कहा जाता है । इस मनुष्य शरीर के उतने रंग होते हैं कि एक दूसरे मनुष्य के रंग में कोई न कोई अंश में अन्तर पाया जाता है । शरीर के रंग जो तीर्थंकरों के बताये हैं कि किसी का तपे हुए स्वर्ण के समान हैं, किसी का सफेद है, किसी का हरा रंग है, किसी का नीला है, किसी का श्याम है, तो ऐसे रंग अब भी कुछ-कुछ देखे जाते हैं । हृष्ट-पुष्ट भी है और श्वेत रंग में हैं, ऐसे अनेक मनुष्य दिखते हैं । स्वर्ण के रंग वाले हैं, और हरे और नीले रंग भी देखे जाते हैं । लेकिन ये सब सम्भव हैं । कुछ-कुछ अकस्मात् पाये तो जाते हैं । यहाँ चन्द्रप्रभ भगवान को बताया गया है कि ये चन्द्रमा की किरणों की तरह

गौर वर्ण के हैं, अत्यन्त शुक्ल वर्ण है । तो वे तो इस जगत् में द्वितीय ही चन्द्र हैं । चन्द्र भी श्वेत वर्ण का होता है, अत्यन्त कमनीय प्रिय ऐसे अभिनन्दनीय चन्द्रप्रभ भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ, जो बड़ों-बड़ों के द्वारा वंदनीय हैं । देव, देवेन्द्र, गणधर, मुनीन्द्र सर्व जिनके चरणों में वंदना करते हैं, ऐसे बड़े-बड़े पुरुषों के अभिनन्दनीय चंद्रप्रभ भगवान् की मैं वंदना करता हूँ । कैसे हैं ये नाथ? ऋषियों के इन्द्र ये ऋद्धि-सम्पन्न, ऊचे-ऊँचे मनुष्य जनों के ये नायक हैं, जिन्होंने मन को और कषाय-बन्धन को जीत लिया है, मन को जीत लिया, कषाय को जीत लिया, बंधन को जीत लिया । ऐसे ये चन्द्रप्रभ आपको मैं वंदन करता हूँ । कथा के आधार पर यह बात प्रसिद्ध है कि जिस समय समन्तभद्र स्वामी ने चन्द्रप्रभ तीर्थंकर की स्तुति का प्रथम छंद पड़ा और वंदन किया तो वही चन्द्रप्रभ देव की प्रतिमा प्रकट हो गई ।

छन्द ३७

यस्याङ्गलक्ष्मीपरिवेषभिन्नं तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नम् ।

ननाश बाह्यं बहुमानसं च ध्यानप्रदीपातिशयेन भिन्नम् ।।३७।।

अन्वयार्थ—(यस्य) जिनके **(अंगलक्ष्मी परिवेषभिन्नं)** शरीर सम्बन्धी दिव्य प्रभामण्डल से विदारित **(बहु)** बहुत सारा **(बाह्यं तमः)** बाह्य अन्धकार **(च)** और **(ध्यानप्रदीपातिशयेन)** शुक्लध्यानरूपी श्रेष्ठ दीपक के अतिशय से **(भिन्नं)** विदारित **(बहु)** बहुत सारा **(मानसं तमः)** मानसिक अज्ञानान्धकार **(तमोरेः)** सूर्य की **(रश्मिभिन्नं)** किरणों से विदारित **(तम इव)** अन्धकार के समान **(ननाश)** नष्ट हो गया था ।

तमोविनाशक श्री चन्द्रप्रभदेव का स्तवन—जिसके शरीर की लक्ष्मी के परिवेश से अंधकार दूर हो गया अर्थात् भामण्डल—प्रभु के शरीर की आभा का जो चारों ओर मण्डल है उस कान्ति से अन्धकार दूर हो गया, जैसे कि सूर्य की किरणों से अंधकार दूर हो जाता है, और फिर जिसके उपदेश वचनों को सुनकर तो हृदय का अंधकार दूर हो ही जाता है, जिसने बाह्य और अंतरंग सर्व प्रकार के दोषों को नष्ट किया है । ध्यानरूपी दीपक के अतिशय से समस्त दोषान्धकार जिसने दूर किया ऐसे चन्द्रप्रभदेव को मैं वन्दन करता हूँ । अज्ञान-अंधकार दूर करने में समर्थ है ज्ञानदीप और ज्ञानदीप वह है जो ज्ञान अपने ज्ञान को प्रकाशित करता है । वह दीपक क्या दीपक है जो खुद को प्रकाशित न कर सके ? जैसे दीपक समानरूप से अपने को प्रकाशित किए रहता है और पर को प्रकाशित किए रहता है, ऐसे ही प्रभु का ज्ञान दीपक के समान खुद प्रकाशमान है और उससे दूसरे पदार्थ भी प्रकाशित होते हैं । ऐसा अंतरंग अंधकार को दूर किया ओर बहिरंग अंधकार को दूर किया, उन कच्छप भगवान को मैं वंदन करता हूँ ।

छन्द ३८

स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ता वाक्सिहनादे र्विमदा बभूवुः ।

प्रवादिनो यस्य मदार्द्रगण्डा गजा यथा केसरिणो निनादैः ।३८।।

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार **(केसरिणः)** सिंह की **(निनादैः)** गर्जनाओं से **(मदार्द्रगण्डाः)** मद से गोले

गण्डस्थलों के धारक **(गजा:)** हाथी **(विमदा:)** मद से रहित हो जाते हैं [तथा] उसी प्रकार **(यस्य)** जिनके **(वाक्सिंहनादैः)** वचनरूप सिंहनादों के द्वारा **(स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ता:)** अपने मत पक्ष की सुस्थिति के घमण्ड से गर्वीले **(प्रवादिन:)** प्रवादीजन **(विमदा:)** गर्व रहित **(बभूवु:)** हो जाते थे ।

स्याद्वाद सिंहनाद द्वारा एकान्तमदमत्तता का विनाश—जिन प्रभु के वचनरूपी सिंहनादों के द्वारा घमंड में सने हुए प्रवादीजन मदरहित हो गए उन प्रभु को मैं वंदना करता हूँ । कैसे हैं वे प्रवादीजन? अपने पक्ष के ठीक निभा देने के घमंड से जो अवलिप्त है याने जिसमें ऐसी वचनकला है कि अपने वचनों के द्वारा अपने पक्ष को ठीक स्थापित कर देने की बात कह देते हैं और उसके घमंड में सने हुए हैं, ऐसे प्रवादीजन जिनके वचनरूपी सिंहनाद से मदरहित हो गए । जैसे मद में मस्त हाथी सिंहनाद सुनकर मदरहित हो जाते हैं, ऐसे ही वचन-सिंहनाद को सुनकर सुवादी भी मदरहित हो गए । हाथियों में जो बहुत बलशाली और यौवनसम्पन्न मदमाते हाथी होते हैं तो उनके मस्तक से मद भी झरने लगता है । जैसे कि मनुष्यों के, शरीर से पसेव बहता, यह पसेव और बात है और दो ही जाति के करीब-करीब मद होते हैं । वह मद झरता है, उस मद से गीला हो गया है मस्तक भाग जिनका ऐसे बड़े-बड़े हस्ती सिंह के नादों के द्वारा मदरहित हो जाया करते हैं । इसी प्रकार से जिन चंद्रप्रभ भगवान की दिव्यध्वनि को सुनकर बड़े-बड़े मदोन्मत्त हाथी भी मदरहित हो गए उन प्रभु को मैं वंदन करता हूँ ।

छन्द ३९

य: सर्वलोके परमेष्ठिताया: पदं बभूवादभ्दुतकर्मतेजा: ।

अनन्तधामाक्षरविश्वचक्षु: समन्तदु:खक्षयशासनश्च ।।३९।।

अन्वयार्थ—(य:) जो **(सर्वलोके)** समस्त संसार में **(परमेष्ठिताया:)** परमाप्तपना के **(पदं)** स्थान **(बभूव)** थे, **(अद्भुत कर्मतेजा:)** तीव्रतपश्चरणरूप कार्य से जिनका तेज अद्भुत अचिन्त्य था अथवा समस्त प्राणि-समूह को प्रतिबोधित करनेरूप कार्य में जिनका केवलज्ञानरूप तेज आश्चर्यकारक था, **(अनन्तधामाक्षरविश्वचक्षु:)** अनन्त केवलज्ञान ही जिनका लोकालोक को प्रकाशित करने वाला अविनाशी चक्षु था, **(च)** और जिनका शासन चतुर्गति के दु:खों का क्षय करने वाला था ।

श्री चन्द्रनाथजी की सर्वलोक में परमेष्ठिता—जो इस समस्त लोक में परमेष्ठीपने के स्थान हुए याने परमेष्ठी कहलाये । परमेष्ठियों में भी उत्तम कहलाये, ऐसे प्रभु को मैं वंदना करता हूँ । परमेष्ठी के दो शब्द हैं—परम और इष्ट, जो उत्कष्ट पद में ठहरें उनको परमेष्ठी कहते हैं । और कोई परमेष्ठी शब्द कहे तो उसका अर्थ है कि जो परम इष्ट हो सो परमेष्ठी । शब्द है परमेष्ठी । परमेष्ठी ५ होते हैं-अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु— ये सब पद में स्थित हैं । इनमें अरहंत और सिद्ध— ये तो देव कहलाते हैं, भगवान हैं, परमात्मा हैं और आचार्य, उपाध्याय, साधु ये गुरु कहलाते हैं । तो देव तो निर्दोष होते हैं । कोई दोष नहीं रहता और गुरु दोषों के क्षय करने में प्रयत्नशील होते है । तो देव और गुरु, इनमें उत्कृष्ट तो देव हैं । गुरु में दोष रहते हैं, मगर दोषों को नाश करने के उद्यमी रहते हैं । महा दोष नहीं रहते । कर्म का उदय है, अल्प दोष चलते हैं, उनको दूर करने

का प्रयत्न करते रहते हैं । तो ये भी परम पद में स्थित हैं । जो आरम्भ और परिग्रह से विरक्त हैं, जिनका ज्ञान निरन्तर ज्ञानस्वभाव के ध्यान में ही लगा रहता है वह आत्मा उत्कृष्ट ही तो है, और ऐसी स्थिति जिसने बनायी है वह उत्कृष्ट पद में स्थित रहता है । विषयों की आशा रंच नहीं, विषयों से विरक्त हैं । किसी प्रकार का आरम्भ परिग्रह नहीं, केवल यही जिसका पौरुष है कि वे सम्यग्ज्ञान में रहें, ध्यान में रहें, तपश्चरण में रहें, ऐसी जिनकी भावना और वृत्ति हो गई है वह आत्मा पवित्र है—और वह उत्कृष्ट पद में स्थित है । और यह भगवान तो अरहंत हैं, सो यह तो उत्कृष्ट पद में स्थित हैं ही । सो हे प्रभु ! आपने इस समस्त लोक में उत्तम जो परमेष्ठी का पद है उस पदरूप आप हुए । आपका ज्ञान-क्रिया का तेज अद्भुत है, ज्ञान का स्वभाव निरन्तर जानने का है । जहाँ जानने में बाधा देने वाले विषय-कषाय के भाव नहीं हैं, रागद्वेष की प्रवृत्ति जहाँ नहीं रहती वहाँ ज्ञान परिपूर्ण प्रकट होता है और ज्ञान के लिए यह कैद नहीं है कि सामने चीज हो तब जानने में आये । सत् हो वह जानने में आता है । यह तो ज्ञान की कमजोरी है छद्मस्थ जीवों में कि जो क्षयोपशम योग्यता के अनुसार थोड़ा जान पाते हैं, पर जहाँ विषय-कषाय का आवरण न रहे वहाँ ज्ञान का उत्कृष्ट वैभव प्रकट होता है कि जगत् में जो भी सत् है वह सब उनके ज्ञान में आ जाता है, और इतना ही नहीं, जो पर्याय हुई, जो पर्याय होगी वह भी ज्ञान में आती है । तो ऐसे आप अद्भुत ज्ञानक्रिया के तेज वाले हैं । प्रभु ! आप अनन्तधाम हैं, ऐसा स्थान पाया कि, जिसका कभी अन्त न होगा । सब जीव अपने-अपने स्वरूप में रहते हैं । यह तो एक उपचार का कथन है कि मैं इस गाँव में रहता हूँ, मैं इस देश में रहता हूँ, मैं इस शरीर में रहता हूँ । वास्तव में तो आत्मा अपने प्रदेशों में रहता है और प्रभु ने तो अपने आपका धाम इतना उज्ज्वल बना लिया कि जहाँ आकुलता का काम नहीं है, ऐसे अनन्तधाम, अन्तरहित धाम जिनका हो ऐसे चन्द्रप्रभ को मैं वन्दन करता हूँ ।

श्री चन्द्रप्रभ देव की अक्षरविश्वचक्षुष्कता—'अक्षरविश्वचक्षु:' याने केवलज्ञान जिनका अविनाशी है । केवलज्ञान सभी अविनाशी होते हैं अर्थात् केवलज्ञान हुए बाद केवलज्ञान केवलज्ञान की ही धारा चलती रहती है । सारे लोक को देख सकने वाले ज्ञान का नाम है विश्वचक्षु: । तो ऐसा अक्षर है विश्वचक्षु जिसका, ऐसे ये चन्द्रप्रभदेव हैं जिनका शासन सर्व प्रकार के दु:खों को नाश करा देने वाला है । जो प्रभु के बताये हुए शासन पर चलेगा उसके सारे क्लेश नियम से नष्ट हो जायेंगे । प्रभु का शासन है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र । सत्य विश्वास करे, सत्य जाने और सत्य में रम जावे । मेरा सत्य क्या? मैं याने पर की अपेक्षा से रहित जो मेरा स्वरूप है यह मेरा सत्य है । जो अपने आप है, स्वरूपरूप है, अविनाशी है वह मेरा सत्य है । उस सत्य का विश्वास हो, मैं यह हूँ । आत्मोद्धार का बहुत बड़ा महत्त्व है । एक शरीर का ही पोषण किया, ममता किया तो उससे क्या पूरा पड़ता है? या कुटुम्बजन की, परिवारजन की ममता की, पोषण किया तो उससे इस आत्मा का क्या पूरा पड़ता है? करता भी कोई नहीं । वैसे सबके अपने-अपने भाग्य हैं । भाग्यानुसार वैसी ही सबको प्रवृत्तियां हो जाती हैं । तो यह सबसे निराला, किसी का कुछ न कर सकने वाला, केवल अपने आपमें ही ज्ञान की कला को करने वाला हूँ, इस प्रकार का विश्वास होना सम्यग्दर्शन है, और इस ही रूप में ऐसे ही स्वभाव को देखते रहने का, जानते रहने का काम सो सम्यग्ज्ञान है और ज्ञाता-द्रष्टा ही बना रहना, रागद्वेष का कोई विकल्प न उपजने देना यह है सम्यक्चारित्र । तो रत्नत्रयरूप, जो प्रभु का शासन है वह समस्त दु:खों को क्षय करने में

समर्थ है, ऐसे ये चन्द्रप्रभ देव बड़े-बड़े पुरुषों के द्वारा वंदनीय हैं ।

छन्द ४०

स चन्द्रमा भव्यकुमुद्वतीनां विपन्नदोषाभ्रकलङ्कलेपः ।

व्याकोशवाङ्न्यायमयूखमालः पूयात्पवित्रो भगवान्मनो मे ।।४०।।

अन्वयार्थ—जो **(भव्यकुमुद्वतीनां चन्द्रमाः)** भव्यजीव रूप कुमुदिनियों को विकसित करने के लिए चन्द्रमा हैं, **(विपन्नदोषाभ्रकलङ्कलपः)** जिनका रागादि दोषरूप मेघकलंक का आवरण नष्ट हो गया है, **(व्याकोशवाङ्न्यायमयूखमालः)** जो अत्यन्त स्पष्ट वचनों के न्यायरूप किरणों की माला से युक्त हैं तथा **(पवित्रः)** कर्ममल से रहित होने के कारण जो अत्यन्त विशुद्ध हैं **(सः)** वे चन्द्रप्रभ भगवान् **(मे)** मेरे **(मनः)** मन को **(पूयात्)** पवित्र करें ।

निष्कलङ्क श्री चन्द्रनाथ की पावनता—ये चन्द्रप्रभ देव भव्यरूप कमलिनियों के लिए चन्द्र की तरह हैं । जैसे चन्द्रमा के उदय होने पर कमलिनियाँ प्रफुल्लित हो जाती हैं ऐसे ही प्रभु के दर्शन होने पर, प्रभु का मन से सत्संग बनने पर भव्य जीव विकसित हो जाते हैं अर्थात् उनका ज्ञान विकास को प्राप्त होता है । जीव में कला एक ही है—ज्ञानकला । उस ज्ञान को कहां लगा दें कि आनन्द होवे । उस ज्ञान को कहां लगायें कि दुःख हो जाये । उस ज्ञान को कहां लगाये कि सुख हो जाये । एक ज्ञानकला की बड़ी महत्ता है । मैं सबसे निराला हूँ, ज्ञानमात्र हूँ । मेरा कहीं कुछ है नहीं । मेरा सब कुछ मेरा स्वरूप ही है, ऐसे अहंकार आदिक छोड़कर जो इस निज ज्ञानस्वरूप में चित्त देता है वह शान्ति प्राप्त करता है । तो ये प्रभु ऐसे भव्य जीवों के ज्ञान को विकसित करने में आप एक अद्वितीय चन्द्रमा की तरह हैं, जहाँ दोषरूपी मेघ का कोई कलंक नहीं है । जब चन्द्रमा का निरभ्र, उदय होता है याने मेघघटा नहीं है, स्पष्ट उदय रहता है तो नीले-नीले आकाश में कैसा गौरवर्ण एक चन्द्रमा की निराली आभा झलकती है । आकाश नीला नहीं होता । आकाश के कोई रूप रंग नहीं होता । वह तो अमूर्त पदार्थ है, पर आखिर अक्ष में कुछ नीलासा दिखता तो है सो क्यों? एक तो ऐसा आखों द्वारा देखने की पद्धति होगी कि जब कुछ न दिखने को हो तो वहाँ एक नीलवर्ण जैसी बात दिखने लगे । दूसरी बात यह है कि इस मेरू पर्वत के ऊपर एक इन्द्रक विमान है प्रथम कल्प का और वह नील वर्ण का विमान है सो यद्यपि यह विमान इतना दूर है और बहुत बड़े विस्तार का है जितना कि आजकल के लोग पृथ्वी समझ पाते हों उससे भी अधिक विस्तार वाला है तो बहुत दूर है, वह तो दिख ही नहीं सकता, मगर उसकी आशा समझिये एक आकाश में ऊपर कुछ नीला नीलासा दिखने लगता है । आकाश में जैसे एक चन्द्रमा अपनी निराली आभा करता है ऐसे हे प्रभु ! आप निरभ्र, कोई कलंक नही, कोई लेप नहीं, इस तरह होते हुए आप भव्य कमलिनियों के ज्ञान को विकसित कर देते हैं । चन्द्रमा में तो किरणों के समूह हैं, प्रभु में क्या किरणसमूह हैं? तो एक जो वचनतरंग है, वचनकला है वही अचूक लीला है । तो ऐसा एक निर्दोष किरणों से युक्त भगवान प्रभु मेरे मन को पवित्र करें । ये प्रभु भी स्वयं पवित्र हैं । रागद्वेष, इच्छा, मोह—-ये भाव जहाँ रहते हैं उसे अपवित्र कहते हैं । जहाँ ये भाव नहीं रहते उसे पवित्र कहते हैं । प्रभु स्वयं पवित्र हैं, वे मेरे मन को भी पवित्र करें ।

अब पुष्पदन्त प्रभु की स्तुति की जा रही है ।

(९) श्री सुविधिजिनस्तवनम्

(उपजातिच्छन्द)

छन्द ४१

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्त्वं प्रमाणसिद्धं तदतत्स्वभावम् ।

त्वया प्रणीतं सुविधे स्वधाम्ना नैतत्समालीढपदं त्वदन्यैः ।।४१।।

अन्वयार्थ—(सुविधे) हे सुविधिनाथ भगवन् ! **(त्वया)** आपके द्वारा **(स्वधाम्ना)** अपने ज्ञानरूप तेज से **(प्रणीतं)** प्रतिपादित **(तत्त्वं)** जीवादि पदार्थ **(एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि)** एकान्त दर्शन का निषेध करने वाला है, **(प्रमाणासिद्धं)** प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है तथा **(तदतत्वस्वभावम्)** तत् और अतत् स्वभाव को लिए है अर्थात् विधि-निषेधरूप है । हे भगवन् **(एतत्)** यह तत्त्व **(त्वदन्यैः)** आपसे भिन्न सुगत आदि के द्वारा **(समालीढपदं न)** अनुभूतस्थान वाला नहीं है सुगतादि के द्वारा ऐसा तत्त्व प्रतिपादित नहीं हो सका है ।

श्री पुष्पदन्त भगवान द्वारा प्रणीत प्रमाणसिद्ध शिवमार्गसाधक शासन का आख्यान—हे प्रभो ! प्रमाणसिद्ध तत्त्व तो आपने ही बताया है । अर्थात् जो सम्यग्ज्ञान से सिद्ध हो ऐसा तत्त्व । वह क्या है प्रमाणसिद्ध तत्त्व? एकान्त दृष्टि का निषेध करने वाला है और वह तत् अतत् स्वभाव वाला है । किसी भी पदार्थ को लो, घट घड़े को कहते हैं । यह घट घटस्वभाव वाला है और यह अघट स्वभाव वाला नहीं है । जो है वह वही है, वह अन्य नहीं होता । एक तो इस तरह तिर्यक् एकांत है । और घट पर्याय बदली और खपरिया बन गई तो बतलाओ खपरियां क्या वह चीज है या और चीज है? तो द्रव्यदृष्टि से उत्तर आयेगा कि वही चीज है जो पहले था याने मिट्टी है । पर्यायदृष्टि से उत्तर आयेगा कि वह चीज न रही । वह तो घट था, अब तो खपरिया हो गई । तो वस्तु जो भी है वह नित्यानित्यात्मक है । जीव भी नित्यानित्यात्मक, पुद्गल भी धर्म अधर्म आकाश काल भी नित्यानित्यात्मक हैं । हम आकाश के परिणमन को नहीं जान पाते, किन्तु युक्ति बता देती है कि यदि आकाश कोई वस्तु है तो उसमें अवस्थायें क्षण-क्षण होती ही रहती है । तो प्रत्येक पदार्थ नित्यानित्यात्मक है । वही तत्त्व प्रमाण प्रसिद्ध है । ऐसे हे प्रभु ! हे सुविधिनाथ भगवान ! आपने अपने तेज से, अपने ज्ञानबल से इन सब बातों का उद्घाटन किया है ।

स्याद्वाद शासन से बहिर्मुख प्राणियों को स्वपद की अनुपलब्धि—स्याद्वाद पद से, इस अमृत से जो बाह्य हैं, आप से जो अतिरिक्त एकान्तवादी हैं वे न चख सके, न पचा सके—एकान्तदृष्टा, तो वस्तु के जो कुछ भी एक धर्म समझ में आये बस उसी का ही एकान्त किया और प्रभु ! आपने स्याद्वाद द्वारा वस्तु के हर पहलू से वस्तुधर्म को बताया । यद्यपि सभी दार्शनिकों ने के कुछ प्रयत्न किया है वह अपना निर्विकल्प ध्यान बनाने को

गर्ज से किया है । इनकी समझ में आया कि जीव को ध्रुव नित्य अपरिणामी मानो । इसमें विकार ही नहीं होता और ऐसा ही उसे देखते रहें तो उससे विकल्प और मोह उत्पन्न न होगा । यह सोचकर नित्य-एकान्तवादी दार्शनिकों ने वस्तु को सर्वथा नित्य माना । तो क्या यह बात जैनधर्म में नहीं है? द्रव्यदृष्टि से है । जो भी पदार्थ है वह स्वभावदृष्टि से अपरिणामी है । वही का वही है, ऐसा द्रव्यार्थिकनय से जैनसिद्धांत ने माना है और यही बात अन्य दार्शनिकों ने मानी, ब्रह्मवादियों ने मानी तो अब अन्तर क्या आया? अन्तर यह रहा कि द्रव्यदृष्टि से ही तो नित्य है, पर जीव में या किसी भी वस्तु में कोई वर्तमान दशा न होवे तो वह वस्तु ही क्या? जिसमें किसी प्रकार अर्थक्रिया न हो, परिणमन न, हो, काम न हो वह वस्तु क्या? वह तो एक कल्पनामात्र चीज रही । तो अज्ञान रखते हुए नित्यपना दिखे वह लाभदायक न बनेगा, और अज्ञान न रखकर यही बात स्याद्वादियों ने भी देखी । जब निर्विकल्प ध्यान करने के लिए पौरुष का निश्चय कर लेते हैं और पुरुषार्थ में चलते है तो वह स्वभावदृष्टि की मुख्यता करके नित्य अनादि अनन्त अहेतुक ऐसा स्वभाव देखा करते हैं । तो जो सब पहलुवों से वस्तु का निर्णय कर लेता है वह एक धर्म का आश्रय करके सफल हो जाता है और जो हर पहलू से वस्तु को निर्णय नहीं करते वे किसी एक धर्म का एकान्त करके समाधानरूप नहीं बन पाते । तो हे प्रभु ! प्रमाणसिद्ध जो तत्त्व है वह आपने बताया, पर उस तत्त्व को आप से भिन्न जो अन्य दार्शनिक हैं उन लोगों ने इस पद का स्वाद नहीं पाया ।

छन्द ४२

तदेव च स्यान्न तदेव च स्यात् तथाप्रतीतेस्तव तत्कथञ्चित् ।

नात्यन्तमन्यत्वमनन्यता च विधेर्निषेधस्य च शून्यदोषात् ।।४२।।

अन्वयार्थ—हे सुविधि जिनेन्द्र **(तव)** आका **(तत्)** वह तत्त्व **(कथञ्चित्)** किसी अपेक्षा से **(तदेव च स्यात्)** तद्रूप ही है **(च)** और **(कथञ्चित्)** किसी अपेक्षा से **(तदेव न स्यात्)** तद्रूप नहीं है क्योंकि तथा **(प्रतीतेः)** उस प्रकार की प्रतीति होती है । **(विधेः)** विधि **(च)** और **(निषेधस्य)** निषेध में **(अत्यन्तं)** सर्वथा **(न अन्यत्वम्)** न भिन्नता है **(च)** और **(न अनन्यता)** न अभिन्नता है क्योंकि ऐसा मानने से **(शून्यदोषात्)** शून्यता का दोष आता है ।

वस्तु की सदतद्रूपता—वस्तु के बारे में यह प्रश्न हुआ कि यह वस्तु वही है या और है, जो पहले थी वही है या अन्य है? तो इसका उतर कथञ्चित् के रूप में आयेगा । कथञ्चित् वही है वो पहले था । कथञ्चित् वह न रहे जो पहले था । द्रव्यदृष्टि से देखकर उत्तर दिया तो उत्तर आया—यह वही है । पर्यायदृष्टि से उत्तर दिया तो यह वह न रहा, यह दूसरा है । तो इस सम्बंध में दो बातें समझनी हैं कि न तो अत्यन्त भिन्नता है और न अत्यंत भेद है । एक प्रर्याय से दूसरी पर्याय होने पर भी अत्यन्त भेद नहीं है । जैसे घट मिटकर खपरियां बन गई तो उन दोनों अवस्थाओं में अत्यन्त भेद नहीं है । मिट्टी का ही तब परिणमन था, मिट्टी का ही अब है, मिट्टीरूप है और न अत्यन्त अभेद है कि वह एक ही हो गया । अवस्थाभेद से उनमें भेद है । अगर एक वस्तु में और

उसकी सब पर्यायों में अत्यन्त भेद माना जाये तो विधि न बनेगी । अत्यंत भिन्न माना जाये, अत्यन्त अभेद माना जाये तो निषेध न बनेगा । इस तरह वस्तु तदतदात्मक है । वही है और वह नहीं है । जैसे यहाँ किसी मनुष्य को देखिये—एक बालक था, वह जवान हो गया तो बतलावो यह वही है या यह दूसरा हो गया? मनुष्य वही है इसलिए यह वही है यह उत्तर आयेगा, किन्तु अवस्था जुदी हो गई इसलिए यह भी न रहा, यह दूसरा हो गया । और व्यवहार भी भिन्न-भिन्न बनता है उससे । बचपन में जैसे कूदता था वैसा जवानी में कोई कूदकर तो बताये । अगर यही है तो कूद तो नहीं सकता, उसकी चाल दूसरी है । बच्चे को कई बातों का परहेज नहीं होता, पर जवान को परहेज होता । तो उनमें कार्य भी जुदा-जुदा हो गये । इससे सिद्ध होता कि यह भी न रहा । ऐसा ही जीव के बारे में लगायें । यद्यपि मनुष्य का उदाहरण कोई नहीं । उदाहरण रहा कि मनुष्य द्रव्य नहीं, फिर भी बहुत काल तक रहने वाली पर्याय को द्रव्य के दृष्टान्त में लिया है और उससे यहाँ घटाया । जीव कैसी ही पर्यायों में जान रहे, वह वही है, दूसरा पदार्थ नहीं है, किन्तु कोई पहले पशु था, गाय भैंस आदि था, आज मनुष्यपर्याय में आया तो बतलावो यह वही है या दूसरा है? अब वह दूसरा हो गया पर्यायदृष्टि से । अगर वही है तो यह भिन्नता क्यों आयी? विचार जुदे । अब यह मनुष्य घास की ओर देखता भी नहीं, तो जुदा हो गया । इस तरह से पदार्थ वही है और वह नहीं है ऐसी प्रतीति होती है । और कथञ्चित् ऐसे दोनों विरुद्ध धर्मों का एक पदार्थ में समावेश है, यह रहस्य प्रभु ! आपने ही बताया ।

वस्तु की तदतद्रूपता व नित्यानित्यात्मकता के परिचय से लाभ—अब यहाँ यह परखें कि हम पदार्थ को स्याद्वाद की विधि से नित्यानित्यात्मक समझकर क्या फायदा उठाते हैं? फायदा यह है कि वस्तु हम भी हैं, हम भी नित्यानित्यात्मक हैं । कोई कहे कि जैसा चाहे खायें, पियें, रहें, मौज करें, मर गए फिर क्या है? तो नित्य का परिचय वह कहता है कि ऐसा मत सोचो । तुम रहोगे, आगे भी रहोगे । जो वस्तु है उसका समूल नाश कभी हो ही नहीं सकता । और कोई सोचे कि हमारा उद्धार कहाँ धरा? ये तो बड़े-बड़े मुनियों की बातें हैं, हम तो पापी हैं, हम तो तिर ही नहीं सकते इसलिए अधिक बढ़कर बात क्या सोचना? धर्म से भी फायदा क्या है? हम तो ऐसे ही रहेंगे । तो यह अनित्यपने की दृष्टि उसे सावधान करती है कि ऐसा मत सोचो । आज पतित हैं तो यह अवस्था मिटकर पावन अवस्था बन सकती है; आज शक्तिहीन है, ज्ञानबलहीन हैं तो यह दशा मिटकर एक ज्ञानबल की दशा आ सकती है । तो वस्तु को नित्यानित्यात्मक समझकर हम उससे आत्मोद्धार का लाभ उठायें ।

छन्द ४३

नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेर्न नित्यमन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेः ।

न तद्विरुद्धं बहिरन्तरङ्गनिमित्तनैमित्तिकयोगतस्ते ।।४३।।

अन्वयार्थ—हे भगवत् ! **(इदं तदेव)** यह वही है **(इति)** इस प्रकार **(प्रतीतेः)** प्रतीत होने से तत्त्व **(नित्यं)** नित्य है और **(अन्य-प्रतिपत्तिसिद्धेः)** यह अन्य है इस प्रकार प्रतीति होने से **(नित्यं न)** नित्य नहीं है तथा **(ते)** आपके मत में **(बहिरन्तरङ्गनिमित्तनैमित्तिकयोगतः)** बहिरंग-अंतरंग कारण और कार्य के योग से **(तद्)** वह

नित्यानित्यात्मक तत्त्व **(विरुद्धं न)** विरुद्ध भी नहीं है ।

वस्तु में नित्यत्व व अनित्यत्व का अविरोध—पदार्थ नित्य है यह बात प्रतीति से सिद्ध है । किसी भी जीव को देखकर जिससे परिचय है हम वैसा ही व्यवहार करते हैं जैसा उसे करना चाहिए । आज हम किसी मित्र को, साथी को देखकर ऐसा तो कभी नहीं सोचते कि यह कौन है, कहां से आया? क्या है? वही है जैसा सोचते थे । तो इससे सिद्ध होता है कि नित्य है, अगर पदार्थ नित्य न होता तो यह व्यवहार चल न सकता था । तो प्रतीति बतलाती है कि पदार्थ नित्य है और वही पदार्थ अनित्य है, यह भी प्रतीति बतलाती है । तो पदार्थ अनित्य है, वह न रहा, यह बात अंतरंग-बहिरंग निमित्तनैमित्तिक योगभाव से सिद्ध है । ऐसा हे प्रभु ! तुम्हारे ही सिद्धांत में तो बताया गया है । वस्तु का सही परिचय करना आत्मीय आनन्द, स्थायी शुद्ध आनन्द के लाभ के लिए बहुत आवश्यक है । आत्मा का कल्याण है मोह-रागद्वेष मिटने में । केवलज्ञान होना तो फल है वीतरागता का । केवलज्ञान अगर न भी हो, यद्यपि यह बात नही है, होता ही है, पर एक अपने आपकी संभावना सत्य में लो कि केवलज्ञान मुझ को उत्पन्न नहीं हो, वीतरागता बने तो टोटा क्या पड़ता है? पर वीतराग होने का फल ही ऐसा है कि एक ज्ञान होगा, सर्वज्ञ बनेगा, पर उस सर्वज्ञता से आनन्द नहीं मिला, आनन्द मिला वीतरागता से । रागद्वेष न रहा तो सारे संकट मिट गए । तो आत्मकल्याण है मोह-रागद्वेष को दूर करने में । अब वह उपाय सोचिये—कौनसा उपाय है जिससे मोह-रागद्वेष दूर हो? उपाय सभी दार्शनिकों ने बताया है । एक दार्शनिक ने यह बताया कि पदार्थ दूसरे क्षण रहता ही नहीं । जीव भी दूसरे समय नहीं रहता । हुआ और खतम । संसार के सारे पदार्थ भी हुए और खतम । जब कोई दूसरे क्षण भी नहीं रहता, कोई पदार्थ स्थिर ही नहीं हैं तो मोह किसमें किया जाये, रागद्वेष किसमें किया जाये? यह उपाय बताया एक दार्शनिक ने । तो एक दार्शनिक ने यह उपाय निकाला कि वस्तु तो ठस नहीं, अपरिणामी है । उसमें कोई परिणमन ही नहीं होता । बोल-चाल क्या, व्यवहार क्या? यह तो सब सम्वृती है, कल्पना है । यह सब कुछ नहीं है, ऐसा जानकर अब, मोह करे कौन? यह, उपाय निकाला । लेकिन ये दो भिन्न उपाय कैसे बन जायेंगे और वस्तु के ये दो भिन्न स्वरूप कैसे हो जायेंगे ? वहाँ संवाद निर्णय देता है अथवा ऐकान्तिक दार्शनिकों को संघर्ष देता है अथवा ऐकान्तिक दार्शनिकों का संघर्ष मिटता है कि भाई ! वस्तु द्रव्यदृष्टि से तो नित्य है और पर्यायदृष्टि से क्षणस्थायी है ।

अनित्य भावना में भी नित्यत्व के दर्शन की अपेक्षा—देखो ! अनित्य भावना क्या है? अनित्य भावना इसका नाम नहीं है कि वस्तु को ऐसा अनित्य देखें कि दूसरे क्षण कोई वस्तु ही नहीं रहती । एक क्षण को हुई दूसरे क्षण में अभाव । अनित्य भावना का यह अभिप्राय नहीं है, अनित्य भावना का अभिप्राय है कि वस्तु द्रव्यदृष्टि में तो नित्य है, पर द्रव्यदृष्टि से जो स्वभाव है उस स्वभाव से कोई व्यवहार नहीं करता है । व्यवहार हुआ करता है पर्यायों से । और ये पर्यायें अनित्य हैं इसलिए व्यवहार मत करें इनसे, रागद्वेष मत करें । तो अनित्य भावना में भी जैसे अनित्य को ढूंढा ऐसे ही नित्य को भी ढूंढ़ना चाहिए, अन्यथा केवल अनित्य अनित्य ही ढूंढ़ें और नित्य की बात न सोचें तो अनित्य भावना भाकर तो वह घबरा जायेगा । जब कोई कहेगा—‘‘राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार । मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार ।।’’ अरे ! सभी मरेंगे, मैं भी मरूगा, तो ऐसा सोचकर उसने कौनसा धैर्य प्राप्त किया ? अगर ऐसा एकान्त मान लिया और उसके साथ मैं नित्य हूँ इस बात

की ओर दृष्टि नहीं गई तो ऐसी भावना रखने वाले तो घबराकर दु:खी ही रहेंगे । हम सब मरेंगे, में भी मरूंगा । अपने मरने की बात सोचकर कौन दु:खी नहीं होता? कौन नहीं घबराता? तो अनित्य भावना ने कौनसा एक अतिशय पैदा किया? अतिशय तब पैदा होगा कि जब उसके साथ यह समझे कि मैं नित्य हूँ । मैं जो आत्मा पदार्थ हूँ वह कभी मिटता नहीं और ये जो पर्यायें हुई हैं ये मिट जाने वाली हैं, ऐसा जानकर तो धैर्य रहता है और जो प्रयोग्य बात है उनसे हटता है । तो वस्तु को नित्यानित्यात्मक मानने पर शान्ति का मार्ग निकलता है । और मानने की बात क्या, वस्तु है ही इसी प्रकार । जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा मानने पर ही उससे मार्ग निकलता है, अन्यथा याने विपरीत माने तो वह कोई शान्ति का मार्ग नहीं निकाल सकता । तो हे सुविधनाथ प्रभु ! वस्तु वह ही है, वस्तु वह नहीं है ऐसा प्रत्येक पदार्थ में तत्त्व पाया जाता है, यह रहस्य आपने ही तो बताया ।

छन्द ४४

अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्या ।

आकाङ्क्षिणः स्यादिति वै निपातो गुणानपेक्षेऽनियमेऽपवादः ।।४४।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! **(पदस्य)** सुबन्त तिङन्त रूप शब्द का **(वाच्यं)** अभिधेय-प्रतिपाद्य विषय **(प्रकृत्या)** स्वभाव से ही **(वृक्षा इति प्रत्ययवत्)** वृक्ष इस ज्ञान की तरह **(अनेकं)** अनेक **(च)** और **(एकं)** एक दोनों रूप होता है । **(आकङ्क्षिणः)** विरोधी धर्म के प्रतिपादन की इच्छा रखने वाले पुरुष के **(स्यात् इति निपातः)** कथंचित् अर्थ का प्रतिपादक स्यात् यह शब्द **(गुणानपेक्षे)** गौण अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले **(अनियमे)** सर्वथा एकान्त रूप कथन में **(वै)** निश्चय से **(अपवादः)** बाधक है ।

वस्तु की एकानेकात्मकता का दर्शन—कहते हैं कि एक पद का वाच्य अनेक भी है, एक भी है । कोईसा भी पद हो उसका वाच्य एक भी होता, अनेक भी होता । जैसे कि कोई एक शब्द ले लीजिए । 'वृक्ष' शब्द लिया । शब्द एक है, अब उसमें प्रत्यय बहुवचन का लगे तो वह बहुत वृक्ष अर्थ बनेगा । शब्द एक है, पथ एक है । जैसे एक शब्द इंगलिश का लिया—बुक । तो इसका वाच्य एक है, इसमें बहुवचन का प्रत्यय लगा एस, तो हो गया—बुक्स, उसका अर्थ है बहुतसी पुस्तकें । तो जैसे प्रत्ययवान होने से प्रकृति के अनेक वाच्य हो जाते हैं ऐसे ही पर्यायवान होने से पदार्थ अनेक कहलाते हैं, और मूल में पदार्थ एक ही है । जैसे कि कोई शब्द और प्रकृति मूल में एक ही है । अब वह मतांधियों की बात है कि कौन किस तरह से वस्तु को समझना चाहता है उसी प्रकार से उसका अर्थ होता है । तो बस एक है और अनेक है । जैसे वस्तु नित्य है और अनित्य है; यह है, अतत् है, इसी तरह लगावें कि वस्तु अनेक है और एक है । मूल प्रकृति, मूल वस्तु से देखें तो एक है और उसमें अवस्थाओं का संसर्ग देखते हैं तो वह वस्तु अनेक है । हे प्रभो ! ऐसा रहस्य आपने ही तो कहा । एक अनेक-अनेक तरह से देखे जाते हैं । जैसे प्रभु की स्तुति में कहते हैं कि सिद्ध भगवान एक माहि एक राजे, एक माहि अनेकनो । एक अनेकनकी नहिं संख्या । भला ये तीन बातें कैसे बन गई? एक में एक ही रह रहा है, एक बात । एक में अनेक रह रहे हैं दूसरी बात और तीसरी बात यह है कि न एक है, न अनेक उसका अर्थ यह है कि प्रत्येक सिद्ध जीव वह ही है और उसका स्वरूप वही है, उसके स्वरूप में किसी दूसरे आत्मा का स्वरूप

नहीं जाता, क्योंकि प्रत्येक आत्मा सत् है । अपने आपका जीव रखता है, और एक माहि अनेकनो, कैसे कि जिस जगह में एक सिद्ध भगवान विराजे हैं उस जगह में अनेक सिद्ध भगवान हैं । एक में एक समाये चले जाते हैं । जहाँ एक आत्मा है वहाँ अनेक पवित्र आत्मा हैं । और पवित्र आत्मा तो स्थिरतया हैं एक में अनेक, मगर जहाँ सिद्ध हैं वहाँ अनेक निगोदिया जीव भी रह रहे हैं, पर उससे यहाँ कुछ तुलना नहीं करनी है । यह हो गया दूसरी बात का अर्थ । फिर कहते हैं कि एक अनेकन की नहिं संख्या, एक अनेक की संख्या ही नहीं है याने जब सिद्ध के स्वरूपमात्र को देखते हैं, चैतन्यज्योतिमात्र । तो ऐसे स्वरूप का अनुभव करने वाले, स्वरूप का दर्शन करने वाले भव्य जीवों के चित्त में न एक संख्या है, न अनेक संख्या है । केवल एक स्वरूप का, अनुभव है । वह स्वरूप जो वहाँ है सो यहाँ है । ऐसा एक ही पदार्थ में भी एक अनेकपना खोजना होता है । द्रव्यदृष्टि से एक और उसमें पर्याय लगी, प्रत्यय लगा, उस संसर्ग से देखें तो वह वस्तु अनेक होती है । इस प्रकार हे प्रभु ! वस्तु का वास्तविक रहस्य आपने ही तो बताया ।

छन्द ४५

गुणप्रधानार्थमिदं हि वाक्यं जिनस्य ते तद द्विषतामपथ्यम् ।

ततोऽभिवन्द्यं जगदीश्वराणां ममापि साधोस्तव पादपद्मम् ।।४५।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! **(जिनस्य)** कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाले **(ते)** आपका **(इदम्)** यह जो **(गुणप्रधानार्थम्)** गौण और प्रधान अर्थ से युक्त **(वाक्यं)** वाक्य है **(तद्)** वह **(हि)** निश्चय से **(द्विषताम्)** द्वे रखने वाले सर्वथा एकान्तवादियों के लिये **(अपथ्ये)** अनिष्ट है **(ततः)** इसलिये **(साधोः)** समस्त कर्मों का क्षय करने के लिये प्रयत्नशील **(तव)** आपके **(पादपद्मं)** चरणकमल **(जगदीश्वराणां)** तीनों जगत् के स्वामी-इन्द्र, चक्रवर्ती तथा धरणेन्द्र के और **(ममापि)** मुझ समन्तभद्र के भी **(अभिवन्द्यं)** वन्दनीय है ।

स्याद्वादविद्वेषियों को प्रभुवचन की अपथ्यरूपता—गौण भाव से और प्रधान भाव से किया हुआ यह सब रहस्य, यह जिनेन्द्रदेव का वचन उनके लिए अपथ्य है, वे पचा नहीं सकते जो आपके सिद्धान्त से द्वेष रखने वाले हैं याने एकान्त का आग्रह करने वाले हैं । पर्यायदृष्टि के वर्णन में द्रव्य गौण हो जाता है, द्रव्यदृष्टि के वर्णन में पर्याय गौण हो जाती है । जहाँ द्रव्य पर्याय, ये दो तत्त्व ही न माने जाते हों वहाँ गौण मुख्य करने की कल्पना ही क्या हो सकती है? तो एक अमृत पद पर पहुंचा देने वाला यह सम्यग्ज्ञान आप से ही प्रकट हुआ । इसलिए हे लोक के ईश्वर ! आपके चरण-कमल वंदनीक हैं और मेरे लिए भी आपके चरणकमल वंदनीक हैं । ऐसे प्रभु के तत्त्वोपदेश से अपने आपके आत्मोद्धार का लाभ उठाना, इसके लिए स्तवन हो तो यह स्तुति की सार्थकता है ।

(१०) श्री शीतलजिनस्तवनम्

(वंशच्छन्द)

छन्द ४६

न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो न गाङ्गमम्भो न च हारयष्टयः ।
यथा मुनेस्तेऽनधवाक्यरश्मयः शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम् ।।४६।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! **(मुनेः ते)** चराचर को प्रत्यक्ष जानने वाले आप शीतल जिनेन्द्र की **(शमाम्बुगर्भाः)** शान्तिरूप जल से मिश्रित **(अनघवाक्यरश्मयः)** निर्दोष वचनरूप किरणें **(विश्चितां)** हेयोपादेय तत्त्व को जानने वाले विद्वानों के लिये **(यथा)** जिस प्रकार **(शिशिराः)** शीतल हैं, संसार-संताप को नष्ट कर शान्ति पहुंचाने वाली हैं तथा उस प्रकार **(चन्दनचन्द्ररश्मयः)** चन्दन और चन्द्रमा की किरणें **(न शीतलाः)** शीतल नहीं है । **(गाङ्गमम्भः)** गङ्गा नदी का जल **(न शीतलं)** शीतल नहीं है **(च)** और **(हारयष्टयौ न शीतलाः)** मोतियों की माला शीतल नहीं है ।

श्री शीतलनाथ भगवान की अनधवाक्यरश्मियों में शीतलता—शीतलनाथ जिनेन्द्र की स्तुति में कहते हैं कि हे प्रभु ! जिस प्रकार आपके निर्दोष वचनों की किरणें शान्ति पहुंचाती हैं, शीतल हैं, उस प्रकार न तो चंदन शीतल है, न चंद्रमा की किरणें शीतल हैं, न गंगा का जल शीतल है और न मोतीहार भस्मियाँ शीतल हैं । जैसे कि हे प्रभु ! आपकी निर्दोष वाणी की किरण, जिन में कि शांति का जल बसा हुआ है, जो कि विद्वानों के लिए शान्ति पहुंचाते हैं वे वचन शीतल हैं । शीतल नाम है जो शीत को लावे । वैसे लोग कहने लगते हैं कि शीत और शीतल एक ही चीज है । ठंड को ही शीत कहते और ठंड को ही शीतल कहते, पर शीत और शीतल में अन्तर है । शीत मायने ठंड और शीतल के मायने जो ठंड को लावे । तो आपकी वचन-किरणें शीतल हैं, शीत को लाती है, शान्ति उत्पन्न करती है । इस प्रकार का शीतल चंदन नहीं है । लोक में प्रसिद्ध है कि चंदन शीतल होता है, लोग माथे में लगाते हैं, दवाओं में लेते हैं, पर कोई मनुष्य यदि व्यग्र है, किसी चिन्ता की घबराहट में है, भीतर में बहुत बेचैनी है, मानसिक संक्लेश है तो क्या चंदन उसका कुछ इलाज कर सकेगा? उससे कोई शीतलता नहीं आती, पर ज्ञान और वैराग्ययुक्त वचन सुने तो कैसे ही दुःख में डुबा हो, कैसा ही वह विवादग्रस्त हो, उसको शांति मिल सकती है । तो सम्यग्ज्ञान और वैराग्यमयी वाणी ही वास्तव में शीतल होती हे । और कुछ शीतल पदार्थ ये कुछ शीतल नही हैं । हैं शीतल, ठंडे हैं मगर मनुष्यों के लिए, संसारी प्राणियों के लिए जो कि मानसिक व्यथा से पीड़ित हैं उनको शीतल नहीं कर सकते । इसी प्रकार चंद्र की किरणें शीतल मानी गई हैं । गर्मी के दिनों में शुक्लपक्ष की रात हो तो लोग वहाँ कुछ शीतलता का अनुभव करते हैं, लेकिन जो अज्ञानी मोही जन हैं जो संयोग-वियोग से पीड़ित हैं, जो तृष्णा-आशा से निरन्तर घबराहट रख रहे हैं उनको चन्द्ररश्मियाँ क्या शीतल कर सकती हैं? उनको शान्ति पहुंचाने में समर्थ तो प्रभु का उपदेश है । इसी प्रकार गंगाजल—चूंकि बर्फ वाले पर्वतों से निकलकर नदी चलती है तो इसका जल ठंडा माना जाता है, पर यह भी शीतल नहीं है । संसारी दुःखी प्राणियों के लिए शीतल तो प्रभुवाणी ही है । यहाँ शब्द दिया है शांतिरूपी जल जिसके भीतर पड़ा

है ऐसा यह शिशिर है । आजकल इसे कहते हैं कोल्डस्टोर, मायने वहाँ भी पानी ठंडा करते हैं, पानी रहता है और पानी ही वहाँ फिंकता रहता है, इस लिए ठंडा रहता है । तो यहाँ प्रभु की वाणी में पानी की जगह है कषायों का वमन करने वाली शिक्षा । उससे ये वचन अत्यंत शीतल होते हैं । ऐसे हे शीतलनाथ भगवान ! आपकी शीतल वाणी हम सबके संताप को दूर करे ।

छन्द ४७

सुखाभिलाषानलदाहमूर्च्छितं मनो निजं ज्ञानमयामृताम्बुभिः ।

व्यदिध्यपरत्वं विषदाहमोहितं यथा भिषग्मन्त्रगुणैः से स्वविग्रहम् ।।४७।।

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार **(विषदाहमोहितं)** विषरूपी दाह से मूर्च्छित **(स्वविग्रहं)** अपने शरीर को **(भिषक्)** वैद्य **(मन्त्रगुणैः)** मन्त्र के गुणों के द्वारा शान्त करता है उसी प्रकार हे भगवन् ! **(त्वं)** आपने **(सुखाभिलाषानलदाहमूर्च्छितं)** वैषयिक सुखों की अभिलाषारूप अग्नि की दाह से मूर्च्छित **(निजं)** अपने **(मनः)** मन को **(ज्ञानमयामृताम्बुभिः)** ज्ञानामृतरूप जल के द्वारा **(व्यदिध्यपः)** शान्त किया था ।

सुखाभिलाषमूर्च्छित मन की सम्हाल कराने में प्रभु की अनुपम भिषग्रूपता (भिषक्-रूपता)—सुख की इच्छा, वही है एक ज्वाला, आग । ऐसे ही एक अग्नि है, उस अग्नि की दाह से मूर्च्छित हुआ यह मन ज्ञानमयी अमृतजल से शान्त किया जाता है, होश में लाया जाता है । जैसे कि विष खाकर विष की दाह से मोहित हुआ मन औषधियों से या मंत्र के गुणों से उस मोहित शरीर को होश में लाया जाता है ! ये संसार के प्राणी सुख की अभिलाषा से मूर्च्छित पड़े हुए हैं । एक ही धुन है कि इन्द्रियजन्य सुख मिले, मानसिक सुख मिले, तो उस सुख को आशारूपी अग्नि से उनका मन मूर्च्छित हो गया है । जैसे बेहोश पुरुष को अपनी कुछ सुध-बुध नहीं रहती ऐसे ही सुख की आशा में लगे हुए प्राणियों को आत्मा की सुध नहीं रहती । उससे मूर्च्छित हुआ यह मन एक ज्ञानजल से ही होश में आ सकता है । यहा भी कोई मूर्च्छित होता है तो उस पर कुछ जल के छींटे डाले जाते हैं इसलिए कि वह होश में आ जाये । तो यहाँ भी सुख की आशा से, अग्नि की दाह से जो मूर्च्छित है उसके कौन से छींटे डालने चाहिए? वे ज्ञानमयी अमृत के जल के छींटे । उन अमृत बिन्दुओं से यह मूर्च्छित मन होश में आ जाता है । एक जीव का ज्ञान ही कारण है । एक ज्ञान का साथ न रहे तो यह जीव संक्लेश करके अनंत संसार का ही बंध करता है । इसको मार्ग दिखाता है तो ज्ञान । मगर अधीर हो गया है, इसमें कुछ घबराहट आ गई है, चिंता हो गई है, शोक रंज हो गया है तो जहाँ सबसे निराले ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व की सुध ली कि मैं तो यह हूँ अमूर्त, जिसका किसी से सम्बंध ही नहीं । मैं तो यह हूँ ज्ञानमात्र, जो किसी में कुछ करता ही नहीं, जिसको कोई बांध सकता ही नहीं, ऐसा सबसे निराला ज्ञानमात्र मैं अंतस्तत्त्व हूँ । ऐसा जब ज्ञान जगता है तो सारे संकट उपद्रव, घबराहट सब एक साथ शान्त हो जाते हैं । अब सुख की आशा की दाह से मूर्च्छित जनों को होश में ला सकने वाली प्रभु की ज्ञानमयी अमृत वाणी ही है, सो हे प्रभु ! आपने इस मूर्च्छित मन को होश में लाया । इस मूर्च्छित जगत को एक सन्मार्ग में आप लाये, ऐसे शीतलनाथ भगवान सबको सन्मार्ग प्रदान करें ।

छन्द ४८

स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया दिवा श्रमार्ता निशि शेरते प्रजाः ।

त्वमार्य नक्तंदिवमप्रमत्तवान जागरेवात्मविशुद्धवर्त्मनि ।।४८।।

अन्वयार्थ—(प्रजाः) लौकिक जन **((स्वजीविते)** अपने जीवन **(च)** और **(कामसुखे)** स्त्री आदि को अभिलाषा से उत्पन्न कामसुख की **(तृष्णया)** तृषा से **(दिवा)** दिन में **(श्रमार्त्ताः)** सेवा-कृषि आदि के श्रम से दुःखी रहते हैं और **(निशि)** रात्रि में **(शेरते)** सो जाते हैं परन्तु **(हे आर्य)** हे पूज्य शीतल जिनेन्द्र ! **(त्वम्)** आप **(नक्तंदिवम्)** रात-दिन **(अप्रमत्तवान्)** प्रमादरहित हो **(आत्मविशुद्ध वर्त्मनि)** आत्मा को अत्यन्त शुद्ध करने वाले सम्यग्दर्शनादिरूपमार्ग में **(अजागः एव)** जागते ही रहे हैं ।

प्रभु के निरन्तर आत्मरमण का संस्तवन—ये संसार के जीव क्या कर रहे हैं? समय के दो विभाग हैं—दिन और रात । तो दिन में क्या काम करते हैं? सभी मनुष्य अपनी जिन्दगी और वैषयिक सुखों में तृष्णा कर-करके सारे दिन थक जाते हैं । दिन में तो थकान का काम करते हैं और रात में सोने का काम करते हैं । तब फिर इनका कोई क्या ठीक? लेकिन हे प्रभु ! आप तो रातदिन प्रमादरहित हैं और अपने ही आत्मा में, इस शुद्ध मार्ग में निरन्तर जागरूक रहते हैं । सबसे कठिन श्रम जिसमें यह जीव थक जाता है वह है सुख और जीवन को तृष्णा बनाये रहना । मेरा जीवन बना रहे, मैं मर न जाऊं । उसकी कल्पना आती है तो यह सारा शरीर ढीला पड़ जाता है दुःख के मारे । और यह तब दुःख और श्रम क्यों लगा है कि इस जीव ने परपदार्थों में कुछ अपना ममत्व किया है इसलिए मरण का डर है । अगर परपदार्थों में ममत्व नहीं है तो मरण का भय हो ही नहीं सकता, क्योंकि जिसको परपदार्थों में ममत्व नहीं उसकी दृष्टि अपने आत्मस्वरूप में हो रहती है कि यह मैं हूँ । तो यह तो कभी मरता ही नहीं । जैसे कोई पुरुष पुरानी झोपड़ी को छोड़कर नये मकान में पहुंचती है तो वह क्या रंज करता हुआ पहुंचता है? उसको कोई कष्ट नहीं होता । वह तो खुशियां मनाता हुआ पहुंचता है । तो ऐसे ही यह देह से निराला चैतन्य आत्मा एक इस वृद्ध जीर्ण-शीर्ण शरीर को छोड़कर यह जायेगा तो इसमें दुःख की कौनसी बात है? यह मैं हूँ, पुरा का पूरा यहाँ से जायेगा । जो मेरा है वह छूटता नहीं, जो मेरा नहीं वह छूटेगा क्या ? अब भी छूटा है । तो जिसको अपने आत्मस्वरूप में दृष्टि है उसको ही माना कि यह मैं हूँ, उसको मरण का भय नहीं है । तो आत्मश्रद्धा जिनके नहीं उनको मरण का भय सताता रहता है । तो अपने जीवन में तृष्णा करके एक श्रम ही बनता है, उससे ही पीड़ित हो जाता है । इसी प्रकार काम-सुख में, इन्द्रियजन्य सुखों में तृष्णा बढ़ाता है, उसके साधन की तृष्णा, उसके भोग को तृष्णा, उस तृष्णा के द्वारा इतना श्रम से पीड़ित हो जाता है कि सारे दिन की थकान जब हो जाती है तो रात्रि में ये प्रजा जन सोया करते हैं । दिन में श्रम से थकना, रात में सोना, सोने में भी भलाई नहीं और तृष्णा की थकान में भी भलाई नहीं । तो भलाई का समय इसने कौनसा लिया? तो ये सब प्रजा जन इसी तरह रात-दिन बरबाद करते हैं, पर हे शीतलनाथ प्रभु ! आप रात-दिन प्रमाद से रहित हैं और शुद्ध मार्ग वाले आत्मतत्त्व में आप निरन्तर जागरूक रहते हैं ।

छन्द ४९

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते ।

भवान्पुनर्जन्मजराजिहासया त्रयीं प्रवृत्तिं समधीरवारुणत् ।।४९।।

अन्वयार्थ—(केचन) कितने ही **(तपश्चिनः)** अग्नि होतृ आदि, दयनीय प्राणी अथवा व्रती जन **(अपत्यवित्तोत्तरलोक तृष्णया)** सन्तान, धन तथा उत्तरलोक—परलोक या उत्कृष्टलोक की तृष्णा से **(कर्म)** अग्निहोम आदि कार्य **(कुर्वते)** करते हैं **(पुनः)** किन्तु **(भवान्)** आपने **(समधीः)** सम बुद्धि होकर **(जन्मजराजिहासया)** जन्म और जरा को छोड़ने की इच्छा से **(त्रयीं प्रवृत्तिं)** मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को **(अवारूणत्)** रोका है अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप भेदरत्नत्रय को दूर कर शुद्ध आत्म स्वरूप की लीनतारूप अभेद रत्नत्रय को अङ्गीकृत किया है ।

प्रभु की निर्दोषता का स्तवन—कोई-कोई तपस्वी लोग पुत्र, धन या परभव की तृष्णा से क्रिया करते हैं, चेष्टा करते हैं । जो भी उन्होंने चरित्र समझा, तपश्चरण समझा उसे करते हैं, लेकिन प्रभु ! आपने क्या किया? जन्म-जरा को दूर करने की इच्छा से याने जन्म-मरण से रहित होने के प्रोग्राम से आपने मन, वचन, काय—इन तीनों की प्रवृत्ति को शान्त बुद्धि होकर रोका । जो जन पुत्र धन आदिक की तृष्णा से क्रिया करते हैं वे न इस क्रिया में ही कुछ पाते है; यहाँ भी कष्ट ही कर रहे और न आगे भी कुछ पायेंगे । जब तक अज्ञान है तब तक जीव को शान्ति का मार्ग नहीं मिलता । शान्त किसे होना है, उसका ही पता नहीं है । देह को माना कि यह मैं हूँ, इसे सुखी करना है । तो जहाँ मूल में ही गल्ती है वहाँ सही उपाय कैसे बन सकता है? पर प्रभु ! आपने जन्म-जरा-मरण-रहित आत्मा के स्वरूप को जाना, उसमें ही यह मैं हूँ, ऐसा अनुभव किया; तो धन, बाहरी व्यथाओं, उपद्रवों को दूर करने की इच्छा से क्या किया? तीन गुप्तियां धारण की । मन, वचन, काय के परिस्पन्द से यह सब संसार चलता है और इन तीनों योगों का निरोध ज्ञानबल से ही होता है, तो दुःख का जो मार्ग है उस मार्ग को शान्त बुद्धि होकर अपने मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को रोका । ऐसा गुणानुवाद करते समय स्तवन करने वाला पुरुष शिक्षा लेता रहता है कि मेरे को भी शान्ति चाहिए तो यह ही उपाय करना होगा जैसा कि प्रभु ने किया ।

छन्द ५०

त्वमुत्तमज्योतिरजः क्व निर्वृत्तः क्व ते परे बुद्धिलवोद्धवक्षताः ।

ततः स्वनिःश्रेयसभावनापरैर्बुधप्रवेकैर्जिन शीतलेड्यसे ।।५०।।

अन्वयार्थ—(हे शीतल जिन) हे शीतल जिनेन्द्र ! **(उत्तमज्योतिः)** केवलज्ञानरूप उत्कृष्ट ज्योति से सहित **(अजः)** पुनर्जन्म से रहित और **(निर्वृतः)** सुखीभूत **(त्वम्)** आप **(क्व)** कहा और **(बुद्धिलवोद्धवक्षताः)** ज्ञान के लेशमात्र से उत्पन्न गर्व से नष्ट **(ते परे)** वे हरि हर हिरण्यगर्भ आदि अन्य देवता **(क्व)** कहा ? दोनों में महान् अन्तर है **(ततः)** इसीलिये **(स्वनिःश्रेयसभावनापरैः)** आत्मकल्याण की भावना में तत्पर **(बुधप्रवेकैः)** श्रेष्ठविद्वानों—गणधरादिक श्रेष्ठ ज्ञानियों के द्वारा **(इडचसे)** आप स्तुत हो रहे हैं—आपकी स्तुति की जा रही है ।

स्वनिश्रेयसभावकों द्वारा प्रभु की पूजितता—हे प्रभो ! तुम उत्तम ज्ञान वाले हो, जन्मरहित हो । कहां तो आपका ऐसा उत्तम पवित्र ज्ञानमय स्वरूप और कहां भूले-भटके अन्य तपस्वी जन, आपके मार्ग से विमुख पुरुष थोड़ीसी बुद्धि पायें तो उसके ही घमंड से बरबाद हो रहे हैं । एक जिज्ञासा होती है कि मेरे पूजने योग्य कौन है, उसका समाधान इस छंद में है । जो पवित्र हो, जो कल्याण को प्राप्त हुआ हो ऐसा परम पवित्र आत्मा ही पूज्य है और उसके ही गुणों के अनुवाद में अपने को शान्ति का मार्ग मिलता है । तो कहा तो एक निर्वाण पाने वाले, पवित्र ज्योति वाले, जन्मरहित शीतलनाथ भगवान जिनेन्द्रदेव और कहा थोड़ीसी बुद्धि पाकर गर्व से अपने को बरबाद करने वाले कुदेव, कुगुरु । उनका जो अन्तर पहिचानते हैं ऐसे पुरुष जो अपने कल्याण की भावना में लगे हैं, उन पुरुषों के द्वारा हे शीतलनाथ देव ! आप ही पूजे जाने योग्य हो । जो कल्याण चाहने वाले हैं वे ढूंढ़ते हैं कि मेरे लिए कौन अनुकरणीय है? तो उनके लिए प्रभु ! आप ही अनुकरणीय हैं, क्योंकि आप पवित्र हैं, जन्मरहित हैं, निर्वाण पाने योग्य हैं और यही चाहिए । कल्याण चाहने वाले पुरुषों के द्वारा हे शीतलनाथ प्रभु ! आप ही पूजे जाते हैं ।

(११) श्री श्रेयोजनस्तवनम्

(उपजातिच्छन्द)

छन्द ५१

श्रेयान् जिनः श्रेयसि वर्त्मनीमाः श्रेयः प्रजाः शासदजेयवाक्यः ।

भवांश्चकाशे भुवनत्रयेऽस्मिन्नेको यथा वीतघनो विवस्वान् ।।५१।।

अन्वयार्थ—(अजेयवाक्यः) अबाधित वचनों से युक्त **(श्रेयान् जिनः)** हे श्रेयों जिन् ! **(इमाः प्रजाः)** इन संसारी जनों को **(श्रेयसि वर्त्मनि)** कल्याणकारी मोक्षमार्ग में **(श्रेयः शासत्)** हित का उपदेश देते हुए **(भवान्)** आप **(अस्विन् भुवनत्रये)** इन तीनों लोकों में **(एकः)** अकेले ही **(वीतघनः)** मेघों में आवरण से रहित **(विवस्वान् यथा)** सूर्य के समान **(चकाशे)** प्रकाशमान हुए हैं ।

श्रेयांस प्रभु की श्रेयःशासकता—श्रेयांसनाथ भगवान की स्तुति में समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि हे प्रभु श्रेयांस जितेन्द्र ! आपने ही तो इस प्रजा को श्रेयस्कर मार्ग में शासित किया है । श्रेयस्कर मार्ग क्या है ? आत्मा को जिसमें शान्ति मिले, आत्मा को निराकुलता मिले बस वही श्रेय है, और उसका जो उपाय है सो श्रेयोमार्ग है । लोक में कितने प्रकार की जीव-जातियाँ हैं? कहां-कहां यह जीव भ्रमण नहीं कर आया? निगोद में, तिर्यंचों में, एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पशु-पक्षी और-और अनेक प्रकार के कुमानुसों में, कुदेवों में भ्रमण कर आये, जन्म लिया, नाना राग-रंग किया । कितना काल व्यतीत हो गया? अनन्त काल । काल का अन्त ही

नहीं । इतना अनन्तकाल इस दु:ख में और भ्रमजाल में घूम-घूमकर आज यह मनुष्य जीवन में आया है तो इसकी इस समय दो त्रुटियाँ हो रही हैं, एक तो यह कि जो श्रेय का मार्ग है, शांति का मार्ग हैं उससे तो उपेक्षा है, उसे तो बेकार काम समझते हैं । जो मन में आया सो किया । धर्म का काम, जिनवाणी सुनने का काम, जिनवाणी के अवधारण का काम, मन हुआ सुन लिया, समय काल हुआ बैठ गए, और पंचेन्द्रिय के विषयों के साधन अथवा मन बहलावा के अनेक प्रसंग इनको महत्त्व दिया तो इन उपायों से यह जीवन व्यर्थ ही तो जाता है । जो जीवन गुजरा वह जीवन पुन: वापिस नहीं आता । कितने ही उपाय कर ले, जो उम्र गई वह क्या वापिस आयेगी? कोई सोचे कि हमने बड़ी गल्तियां की, बचपन से ही अच्छा करता, अच्छे विचार रहते, धर्मपालन में रहते तो मेरा कितना भला था? अब मेरी वही स्थिति बन जाये तो मैं गल्ती न करूँगा, तो यह उम्र वापिस आ सकती है क्या? नहीं आ सकती । तो जो सही उम्र है उसे इस तरह बिताये कि धर्म के कार्य को मुख्य मानें । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप धर्म को तो मुख्य मानें और बाकी बातें ये करनी पड़ती हैं, गृहस्थी में रहते हैं, विवशता है इसलिए करते हैं, इस तरह जानकर उसे करे तो इस जीव को भलाई का रास्ता मिलेगा अन्यथा इस भव के बाद पता नहीं कौनसा भव मिले? फिर क्या किया जायेगा । आज मनुष्य हैं, अच्छा मन है, अच्छी बातें करते हैं । दूसरी की सुनते हैं, अपनी बोलते हैं और मनुष्य के बाद मानो कीड़ा-मकोड़ा बन गए तब फिर इसका क्या वश चलेगा? आज तो मद है, गर्व है और इसके बाद जब कुयोनियों में उत्पन्न हो गए तब यह कहां मद टिक सकेगा? इससे यह जीवन बड़ी जिम्मेदारी का जीवन है । इसमें कोई अपनी जिम्मेदारी न निभाये तो यह उसकी बहुत बड़ी भूल है ।

अपने हित के लिये अपना उत्तरदायित्व—जिम्मेदारी है—धर्म के काम को मुख्यता देना और इन्द्रियविषयों की विवशता समझें । तो ये दो काम बड़े ध्यान में हैं कि अन्य बातों को तो विवश होकर किया जाता है ऐसा मानना और धर्म के कामों को इसे खुशी-खुशी बड़ी प्रसन्नता से, अपने हित के प्रयोजन से करना चाहिए ऐसा अपना निर्णय रखना । तो प्रभु श्रेयांस जिनेन्द्र ने प्रजा को इस शान्ति का उपदेश दिया तो ठीक ही है । वह अजेय वाक्य है । उनका वचन अजेय है, उनका कोई खण्डन नहीं कर सकता, क्योंकि उन्होंने स्वयं अनुभव किया और जो शान्ति का पथ है उस पथ पर वे चले, अनुभव किया मैं आत्मा हूँ, अपने आप अपनी सत्ता रखता हूँ, मेरे में मैं ही रहता हूँ । मुझ में किसी दूसरे का प्रवेश नहीं, किसी दूसरे का मुझ पर अधिकार नहीं । कभी किसी परिस्थितिवश कोई किसी के अधीन बन रहा है तो वह इसे अपने अधीन नहीं कर रहा, किन्तु अधीन बनने वाला जीव खुद ही अपना कुछ मतलब समझता है, प्रयोजन समझता है, सो अपने गुणों से दूसरे के अधीन बन रहा है अपनी ही कल्पना से और कोई जीव किसी दूसरे को अधीन बनाता हो ऐसी बात कभी भी सम्भव नहीं । वह तो अधीन बनने वाले का विकल्प है । मुझे ऐसा ही इसका काम करना, इसकी बात मानना, इसके हुक्म में रहना, इसमें ही मेरा भला है । खुद सोचते हैं इसलिए वे दूसरे के अधीन बनते हैं, परन्तु वस्तुस्वरूप यह कहता है कि किसी जीव का किसी दूसरे पदार्थपर कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, अपने आपकी सत्ता लिए हुए है, अपना ही काम करेंगे । कोई किसी दूसरे का काम नहीं कर सकता । परिणम ही नहीं सकता । तो सबसे बड़ी भूल जीव में है तो यही है कि वह यह मानता है कि मैं किसी दूसरे

को कुछ कर देता हूँ । अपने स्वरूप को देखो—मैं ज्ञानमात्र हूँ, अपने में अपना काम करता रहता हूँ, इसके आगे मेरी कुछ करतूत नहीं होती, इसलिए अपनी दृष्टि से अपना निर्णय बनायें फिर शान्ति पा सकेंगे । तो प्रभु ने स्वयं इन सब बातों का अनुभव किया जिसके फल में कर्मों का विनाश हुआ और केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । तो हम या संसारी जीव यहाँ की कुछ बातों को तो सोचते हैं कि इसमें लाभ है, इसमें मेरा बड़प्पन है, इसमें मेरा भला है । यहाँ की बातों में तो सोचते हैं, मगर यह नहीं सोचते कि यह शरीर ही न रहेगा तब मेरे लिए ये क्या काम देंगे? शरीर तक ही मान लिया, विश्वास रखा कि यह मेरे काम आ रहा, वैभव है, परिजन है, अन्य कुछ है, और जब शरीर से अलग हो गए तब ये मेरे क्या काम आयेंगे? तो वो मैं हूँ, जिसमें मेरा सही भला हो वह बात विचारना चाहिए ।

ज्ञानी की निःस्पृहता—मुमुक्षु को आज के जमाने की रीति कुछ विडम्बना-सी लगेगी । जो उद्धार का निर्णय किए हुए हो उसके लिए आज का जमाना कुछ विडम्बना-सा बतायेगा, क्योंकि उसे न प्रशंसा की फिक्र, न निन्दा की । उसको न किसी से अनुराग, न किसी से द्वेष, वह तो अपनी धुन में रहेगा, । उसको आज का जमाना कहा भला कह सकता है? तो उसमें इतना भी साहस होना चाहिए कि जमाना मुझे भला न कहे, उसकी भी परवाह नहीं, मेरी दुनिया अलौकिक है, क्योंकि वह तो अलौकिक काम के लिए अपना जीवन मानता है । तो उस अलौकिकता की जो धुन रखे वह पुरुष कल्याण करेगा । सीधी स्पष्ट बात यह है कि वह दुनिया की पार्टी से, इन संसारी प्राणियों के मजलिस से वह अपना नाम कटा हुआ समझे तब यह अन्तर में अपनी सही दिशा पा सकता है । यह बात कह रहे हैं आत्मोद्धार के प्रसंग की । तो कुछ ऐसा भी चाहिए और गृहस्थ हैं तो कुछ यहाँ का भी चाहिए । सो एक बात और ध्यान में देने की है कि जो अपने आपके उद्धार के काम के लिए उतारू हो उसको आवश्यकतानुसार लौकिक बातें तो रहती ही हैं, पर लौकिक बातों में कोई पुनः बनाये तो उसको आत्मा की बात नहीं रहती है । आत्मा की प्रगति में, मार्ग में चलना हो तो लौकिक सुविधायें भी रहती हैं, पर लौकिक सुविधाओं का ही दास बनकर रहे तो उसे अलौकिक बात नहीं मिल सकती । इस कारण मुख्य बात है आत्मोद्धार की । हे प्रभु श्रेयांस जिनेन्द्र ! आपने उसका ही उपदेश किया । सो आप इस तीन लोक में एक ऐसे प्रकाशमान हो जैसे कि मेघरहित सूर्य प्रकाशवान् होता है । जब सूर्य के नीचे बादल न हो तब उसका जो तेज है, प्रकाश है वह एक अद्‌भुत है, प्रकृष्ट है, ऐसे ही जब आपके आवरण न रहे, आपका जो अभ्युदय है, केवलज्ञान का जो प्रकटपना है वह अद्‌भुत है ।

प्रभुता पाने के लिये प्रभुस्वरूप की उपासना की आवश्यकता—अब अपने अन्दर थोड़ा ध्यान देकर देखें कि मैं जब भगवान के स्वरूप जैसा ही हूँ, केवलज्ञान मेरे में प्रकट हो सकता है, इतनी अद्‌भुत विधि मुझे प्राप्त हो सकती है तो इस संसार की चंचल और विनाशीक विभूति के लिए क्या चित्त लगाये रहना? मैं अपनी अद्‌भुत ज्ञानानन्द मूर्ति के लिए ही चाहूं, ऐसा चित्त में उत्साह जगना चाहिए । जब मैं वीतराग हो जाऊँगा, कर्मरहित हो जाऊँगा तो बस प्रभु की तरह ही अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्तआनन्द प्रकट हो जायेगा, बस यह निधि मिल जायेगी । तो एक ऐसी बात है कि जैसे दो चीजें पड़ी हों सामने—खल का टुकड़ा और चिन्तामणि रत्न । तो उससे कहा जाये कि तुम जो चाहो सो मिल जायेगा । सामने तुम्हारे दोनों हो चीजें पड़ी

हुई हैं, और वह मुग्ध यह ही कह बैठे कि लावो खल का टुकड़ा, तो ऐसी बात सुनकर तो कह बैठेंगे कि उसने ठीक नहीं किया, पर अपने माप की भी बात देखो । भीतर तो है चिंतामणि रत्न और जरा ही दूर ये सब पड़े हैं खल के टुकड़े—परिजन हों, वैभव हो, कुछ भी हों; ये सब हैं खल के टुकड़े और इसके मांगने से दोनों ही मिल सकते हैं । इसका जैसा संकल्प बने, जैसी चाह बने, रुचि बने इसके अनुसार खल का टुकड़ा भी मिल सकता और भीतर का चिन्तामणि भी मिल सकता, मगर यह अपने अभ्यास और वासना के अधीन होकर कह बैठेगा कि मुझे तो यह ही चाहिए । चिंतामणि का तो नाम ही नहीं लेता । चैतन्यचिन्तामणि यदि अपने आत्मा का सहज स्वरूप, उसकी कुछ दृष्टि ही न करे तो यह ऐसी दशा, क्या अच्छी दशा है? हम को अपने भीतर विराजमान परमात्मस्वरूप की उपासना और उसकी महत्ता करना चाहिए । मुख्य काम तो यह है । जिसने यह काम किया उसका जीवन सफल है और इस काम को छोड़कर बाहरी बातों में लगा तो समझो कि जैसे अनन्त जीवन उसके बेकार बीत गए ऐसे ही यह भी जीवन बेकार गया । जब-जब भी यह जीव जिस-जिस भव में जीवित रहा उस भव को ही सब कुछ समझता रहा । यह ही भव ठीक है और उस भव का ही बड़प्पन मानता रहा, मगर सब श्रृङ्खलायें इसकी टूटती गई । कहीं यह विराम न पा सका और उसी धुन में आज भी है तो जैसे अनन्त भव गए वैसे ही यह भी अब जायेगा । इसने इस भव से कोई लाभ न उठाया । उस लाभ की बात प्रभु आपने ही कही । और आप उसके कहने के सच्चे अधिकारी हैं, क्योंकि कर्मावरण रहित हैं और एक निमेध सूर्य की तरह अद्भुत प्रकाशमान हैं । हम कुछ सोचें ।

चैतन्यचमत्कारमय प्रभु की उपासना से लाभ लेने का अनुरोध—भैया ! जब भगवान् की भक्ति करते हैं, पूजन को जाते हैं, स्तवन करते हैं तो कुछ तो ध्यान लाना चाहिए कि मुझ में और भगवान में इतना अन्तर कि यह तो वहीं सिद्धालय में विराजे हैं । किसी से कुछ बोलते नहीं और दनादन लोग देव देवेन्द्र वगैरा पूजते चले जा रहे । यह अन्तर कैसे आ गया कि भगवान तो पुजते हैं और हम पूजने का परिश्रम करते हैं ? जीव जीव सब एक हैं, स्वरूप एक है । बात एक ही है, पर इतना महान अन्तर कैसे? यह अन्तर आया है प्रभु के स्वरूप को न समझने का और उसमें अभेद भाव न लाने का । यह सारा अंतर है । भक्ति तो हम किया करते हैं, हमारा स्वभाव है भक्ति करने का । भक्ति बिना कोई नहीं रह रहा, हर एक कोई भक्ति करता है । जिसकी जिसमें धुन हो, जिसकी जिसमें लगन हो, भक्ति उसकी करता है । तो ऐसे भक्त तो सभी मनुष्य हैं, पर अन्तर है । कोई स्त्री का भक्त है, कोई पुत्र का भक्त है, कोई धन का भक्त है, कोई सोना-चांदी का भक्त है, कोई यश:कीर्ति का भक्त है तो कोई आत्मस्वरूप का भक्त है । जो आत्मस्वरूप का भक्त है वह तो अपने में कुछ पा लेगा और जो इन बाहरी बातों का भक्त है उसको न ये बातें मिलेगी और न यहाँ कुछ मिलेगा । तो आत्मस्वरूप का हम परिचय बनायें और उसके लिए कठिन-कठिन भी सब काम करें । तन जाये, धन जाये, मन जाये, वचन जाये, प्राण भी जायें और किसी भी उपाय से एक अपने आपके अमर चैतन्यस्वरूप का प्रकाश पा लें तो उसने सब कुछ पाया । और एक यह ही न पा सके तो बाहर की सारी बातें पाकर भी उसने कुछ नहीं पाया । वह मार्ग प्रभु श्रेयांस जिनेन्द्र देव ने बताया और बताने के वे अधिकारी यों हैं कि वे स्वयं उस मार्ग के फल को प्राप्त कर चुके हैं, ऐसे प्रभु मुझे सद्बुद्धि दें अथवा उनकी उपासना के फल में मेरे में सद्बुद्धि जगे और

मैं अपने आत्मस्वरूप का महत्त्व आकने लगूं तो यह मेरे लिए एक बहुत बड़ी प्राप्ति होगी ।

छन्द ५२

विधिर्विषक्तप्रतिषेधरूपः प्रमाणमत्रान्यतरत्प्रधानम् ।

गुणोऽपरो मुख्य नियामहेतुर्नयः स दृष्टान्तसमर्थनस्ते ।।५२।।

अन्वयार्थ—हे श्रेयाजिन ! **(ते)** आपके मत में **(विषक्त प्रतिषेधरूपः)** जिसमें कथंचित् पर चतुष्टय की अपेक्षा नास्तित्वरूप भी तादात्म्य सम्बन्ध से सम्बद्ध है ऐसा **(विधिः)** स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्व **(प्रमाणम्)** प्रमाण का विषय है । **(अत्र)** इन विधि और प्रतिषेध में **(अन्यतरत्)** एक **(प्रधानम्)** प्रधान है और **(अपरः)** दूसरा **(गुणः)** अप्रधान है । यहाँ **(मुख्य नियामहेतुः)** मुख्य के नियम का जो हेतु है **(नयः)** वह नय है तथा **(सः)** वह नय **(दृष्टान्त समर्थनः)** दृष्टान्त का समर्थन करने वाला है ।

प्रभु के उपदेश की प्रमाणसम्मतता का दिग्दर्शन कराते हुए प्रभु का स्तवन—श्रेयांस प्रभु की स्तुति में उनके सिद्धान्त का साक्षात् दिग्दर्शन कराते हुए स्तवन किया जा रहा है । विधि, प्रतिषेध-रूप से युक्त होती है अर्थात् किसी भी पदार्थ में, किसी भी धर्म का अस्तित्व बताना उसके नास्तित्व से युक्त होता है, दृष्टिभेद जरूर रहता है । जैसे जीव को बताया कि यह नित्य है, इसमें विधि बनायी धर्म की । तो वे अनित्य को साथ लिए हुए है । जीव नित्य है, ऐसी विधि जब कही गई तो जीव में नित्य नहीं हे यह भी उसके साथ जुड़ा हुआ है । भेद दृष्टि का है । द्रव्यदृष्टि से नित्य है, पर्यायदृष्टि से नित्य नहीं है । क्यों विधि और प्रतिषेध होता है एक पदार्थ में? इसका कारण है कि पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक होता है । पर्यायशून्य द्रव्य मानने वाले ब्रह्मा द्वैत आदिक की तरह उपलब्धि से शून्य हो जाता है और द्रव्यशून्य पर्याय को मानने वाले क्षणिकवादियों को तरह कहीं वह स्थिर नहीं रह सकता है । प्रत्येक पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है । तो जो भी बात कही जायेगी वह द्रव्य पर्याय में से एक की होगी, दो की नहीं हो सकती । तो जब एक की होगी तो दूसरा भी तो साथ लगा है, उसकी दृष्टि में उसका निषेध होगा । तो जितनी भी विधि है कह प्रतिषेधरूप से युक्त है और यही प्रमाण याने विधि-निषेधात्मक जो ज्ञान है वह प्रमाण है । बोधग्राही ज्ञान प्रमाण होता है । सो पदार्थ तो है विधिनिषेधरूप, पर उनमें से एक तो प्रधान है और दूसरा गौण है, और एक प्रधान बने, एक गौण बने इसका नियम कराने का कारण है नय । जिस नय की मुख्यता है वह तो होता है प्रधान, दूसरा होता है गौण, सो हे प्रभु ! यह सब कुछ दृष्टान्तसहित समर्थन आपके सिद्धान्त में है ।

छन्द ५३

विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते ।

तथारिमित्रानुभयादिशक्तिर्द्वयावधिः कार्यकरं हि वस्तु ।।५३।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् **(ते)** आपके मत में **(विवक्षितः)** विवक्षित पदार्थ **(मुख्य इतीष्यते)** मुख्य कहलाता है और **(अन्यः)** दूसरा—अविवक्षित पदार्थ **(गुणः)** गौण कहलाता है । **(अविवक्षः)** जो पदार्थ अविवक्षित है वह

(निरात्मकः न) अभावरूप नहीं है **(तथा)** मुख्य और गौण की इस विधि से **(वस्तु)** पदार्थ **(अरिमित्रानुभयादिशक्ति)** शत्रु मित्र और अनुभय आदि शक्तियों से युक्त होता है **(हि)** निश्चय से समस्त पदार्थों की **(द्वयावधिः)** भाव अभाव अथवा द्रव्य और पर्यायरूप मर्यादा है और उसी मर्यादा का आश्रय कर वस्तु **(कार्यकरं)** कार्यकारी होती है ।

अनंतशक्यात्मक वस्तु की कार्यकारिता के उपदेशक शासन के अधिनायक की प्रभुता का स्तवन—हे प्रभु ! तुम्हारे सिद्धान्त में बताया गया है कि जो तत्त्व विवक्षित है, जिसके कहने की इच्छा कही जा रही है वह तो होता है मुख्य और अन्य तत्त्व हो जाता है गौण । जिसके विपक्ष नहीं है वह गौण है, जिसके विपक्ष है वह मुख्य है । जैसे कमरे में दो भींत होते हैं, चार भी होते हैं, पर कम से कम दो भींत तो हुआ ही करते हैं । खुले भी हो बिल्कुल तो भी दो भींत हैं । जिस भींत को देखा जा रहा है वह तो मुख्य है और जिसको नहीं देख रहे हैं वह गौण है । तो गौण होने से उसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरी भींत है ही नहीं । जिस भींत को देखा जा रहा है वह ही है, दूसरी नहीं ऐसा तो नहीं है । हाँ, दृष्टि में जो सामने है, जिसकी चर्चा कर रहे हैं, जिसमें कुछ परख कर रहे हैं वह भींत मुख्य है, दूसरी भींत गौण है । इस प्रकार पदार्थ में जो भी विधि-निषेधरूप धर्म हैं उसमें जो विवक्षित हो सो तो मुख्य है और जो विवक्षित नहीं वह गौण होता है, पर स्वभावशून्य नहीं है, निरात्मक नहीं है कुछ । जो गौण है वह नहीं है ऐसा नहीं, अन्यथा जो अग्र बनाया जा रहा वह भी न रहेगा । तो प्रत्येक पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है इसलिए यह सब अनेकान्त सिद्ध होता है और जो द्रव्य-पर्यायात्मक है वही वस्तु है और वही कार्य कर सकने वाली है । केवल सामान्य जैसा कि पर्यायशून्य ब्रह्म माना या अन्य अद्वैत माना कि उसकी अर्थक्रिया तो नहीं होती । उसका नाम नहीं चलता और जो द्रव्यशून्य-पर्याय है वहाँ भी कुछ क्रिया नहीं हो सकती । क्षणभर में पदार्थ उत्पन्न हो, दूसरे क्षण न रहा वह काम क्या करेगा? परिणति क्या बतायेगा? तो एक ही पदार्थ में बराबर ये दोनों शक्तियां हैं—द्रव्यत्वशक्ति और पर्यायत्व शक्ति । जैसे कि व्यवहार में कोई भी एक पुरुष है उसमें अनेक शक्तियां हैं, शत्रुपने की शक्ति है, मित्रपने की शक्ति है, तटस्थता की शक्ति है, किसी के लिए शत्रु है, किसी के लिए मित्र है, किसी के लिए तटस्थ है, पुरुष एक ही है । तो जैसे उस एक पुरुष में शत्रु, मित्र और तटस्थ—ये तीन प्रकार की बातें पायी जाती हैं, तो इससे समझिये कि सभी पदार्थों में अनेक प्रकार को शक्तियां पायी जाती हैं । तो ऐसी दो बातें पदार्थ में हैं—द्रव्य और पर्याय । तब ही वह वस्तु कार्य को करने वाली होती है । ऐसा सिद्धान्त हे प्रभु ! आपने प्रकट किया ।

छन्द ५४

दृष्टान्तसिद्धावुभयोर्विवादे साध्यं प्रसिद्ध्येन्नतु तादृगस्ति ।

यत्सर्वथैकान्तनियामिदृष्टं त्वदीय दृष्टिर्विभवत्यशेषे ।।५४।।

अन्वयार्थ—(उभयोः) वादी और प्रतिवादी के **(विवादे)** विवाद में **(दृष्टान्त सिद्धौ)** उदाहरण की सिद्धि होने पर **(साध्यं)** साध्य **(प्रसिद्धयेत्)** अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है **(तु)** परन्तु **(तादृक् न दृष्टं अस्ति)** वैसी दृष्टान्त भूत

कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं है **(यत्)** जो सर्वथैकान्तनियामि) सर्वथा एकान्तवाद का नियमन करने वाली हो क्योंकि **(त्वदीयदृष्टि:)** आपका अनेकान्तमत **(अशेषे)** समस्त साध्य, साधन और दृष्टान्त में **(विभवति)** अपना प्रभाव डाले हुए हैं ।

एकान्तदृष्टि से उत्पन्न कठिन समस्याओं का समाधान करने वाले अनेकान्त-शासन के विभावक प्रभु का स्तवन—हे प्रभु ! आपकी दृष्टि, आपका दर्शन, आपका सिद्धान्त समस्त समाधानों को उत्पन्न कर देता है । वस्तु में मूल दो तत्त्व रहे—द्रव्य और पर्याय । उनके सम्बंध में जब कदाचित् विवाद उत्पन्न हो तो युक्तियों से तो उसको बताया ही जाता, मगर दृष्टान्तों से उसकी सिद्धि करने पर लोगों की दृष्टि में साध्य एकदम प्रसिद्ध हो जाता है । पर जो सर्वथा एकान्तवाद के नियम से ही गठे हुए सिद्धान्त हैं उनमें दृष्टान्त से कुछ सिद्धि नहीं बन सकती । जैसे कोई कहे कि वस्तु सर्वथा नित्य हैं तो उससे कहो कि हमको जरा बता दो—कौन है ऐसा जो सर्वथा नित्य है? तो बताने चले तो किसे बतायेंगे? जो सर्वथा नित्य हो, और कुछ बतायेंगे तो वह सब एक दिमागमारी बात रहेगी । तो जो सर्वथा एकान्त के नियम से गढ़े हुए सिद्धान्त हैं उनमें न तो दृष्टान्त मिलते हैं, न युक्ति मिलती, न अर्थक्रिया होती, पर हे प्रभो ! तुम्हारा दर्शन इन समस्त समाधानों को कर देता है ।

छन्द ५५

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धिर्न्यायेषुभिर्मोहरिपुं निरस्य ।

असि स्म कैवल्यविभूतिसम्राट् ततस्त्वमर्हन्नसि मे स्तवार्ह: ।।५५।।

अन्वयार्थ—हे श्रेयो जिनेन्द्र ! **(एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धि)** एकान्तदृष्टि के निषेध की सिद्धि **(न्यायेषुभि:)** न्यायरूप वाणों के द्वारा होती है अर्थात् आपने न्यायरूप वाणों के द्वारा सर्वथा एकान्तवादियों का निराकरण कर उन पर विजय प्राप्त की है और **(यत:)** जिस कारण आप **(मोहरिपु:)** अज्ञानरूपी शत्रु अथवा मोहनीय कर्म से युक्त ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों को **(निरस्य)** नष्ट कर **(कैवल्यविभूतिसम्राट्)** केवलज्ञानरूप विभूति अथवा समवसरणादिरूप लक्ष्मी के सम्राट् **(असि स्म)** हुए हैं **(तत:)** इस कारण **(अर्हन्)** हे अर्हन्त **(त्वम्)** आप **(मे)** मेरे **(स्तवार्ह:)** स्तवन के योग्य **(असि)** हैं अर्थात् मैं आपकी स्तुति करता हू ।

मोहरिपु का निरसन करके कैवल्यविभूतिसम्राट होने का तंत्र प्रसिद्ध करने वाले प्रभु का स्तवन—जो एकान्त-दर्शन हैं उनका प्रतिषेध सिद्ध होने से न्यायरूपी वाक्यों के द्वारा हे प्रभु ! आपने मोहशत्रु का निरसन किया । एकान्त-दर्शन का प्रतिषेध क्यों युक्त है? जो मूल में यह बात समझ लेगा कि जो भी सत् है वह सदा रहता है और अपनी अवस्थायें प्रतिसमय बदलता रहता है । बस, मूल सिद्धान्त यह मान ले कोई तो उसके लिए फिर सर्व तत्त्वों की सिद्धि आसान हो जाती है । जो भी पदार्थ है वह द्रव्यरूप है, पर्यायरूप है, सदा रहने वाला है यह तो है द्रव्यदृष्टि और क्षण-क्षण में नया-नया बनता है— यह है पर्यायदृष्टि । अब बतलावो, मैं किसका अभाव करूँगा? अगर द्रव्य का अभाव किया तो केवल पर्याय-पर्याय कोई भी वस्तु नहीं है । पर्याय होगी ही किसकी? जब कोई द्रव्य ही नहीं तो पर्याय का रूप बनेगा ही कहां से? और कोई द्रव्य-द्रव्य ही कहे, पर्याय न कहे तो

पर्याय बिना द्रव्य क्या चीज है, बता तो दे कोई? जैसे डराने के लिए एक हौवा शब्द कहा जाता है—हौवा आ जायेगा तो हौवा कोई चीज तो नहीं, क्योंकि न वहां द्रव्य है, न पर्याय है । आकाश का फूल कोई चीज है क्या? न द्रव्य है, न पर्याय है आकाश का फूल । तो इस प्रकार पर्यायशून्य द्रव्य केवल एक कल्पनामात्र है और द्रव्यशून्य पर्याय केवल एक कल्पनामात्र है जो मानने वाले के चित्त में भी न बैठ सके । तो जब वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है, द्रव्य-पर्याय से शून्य नहीं है तो एक का निषेध कैसे किया जा सकता है? जैसे समुद्र के दो तट हैं । एक तट का कोई अभाव बताये तो समुद्र फिर कहाँ व्यवस्थित रहेगा? वस्तु के ये दो पहलू सदा रहते और बदलते रहते । यह ऐसा अकाट्य है कि इनमें से अगर एक नहीं है तो वस्तु भी नहीं, दूसरा भी नहीं । तो एकान्त-दृष्टि का प्रतिषेध युक्त ही है और फिर इस युक्ति से जो ज्ञान प्राप्त किया, जो आत्मबोध किया उससे मोहशत्रु का फिर निराकरण किया । आत्मा के ज्ञान बिना मोह, रागद्वेष दूर नहीं किए जा सकते । संसार के जीवों को उन ही जीवों के मोह रागद्वेष ने ही परेशान किया दूसरी वस्तु कोई परेशान करने के लिए नहीं आती, क्योंकि कुछ सम्बंध ही नहीं किसी दूसरे से । दूसरा मुझ में कुछ कर ही नहीं सकता । मैं ही कल्पनायें करके, संसारी जीव ही कल्पनायें करके अपने आपको दुःखी कर लिया करते हैं । कल्पना से मिलता कुछ है नहीं, मिल ही नहीं सकता । किसी दूसरी वस्तु से मुझको कुछ मिल ही नहीं सकता । आनन्द किसी दूसरे के निकट आने से नहीं होता, किन्तु अपने को सत्य ज्ञानमात्र अनुभव करने से याने ज्ञान में मात्र ज्ञानस्वरूप ही समाया रहे, ऐसी एक सामान्य स्थिति बनने से स्वयं ही अद्‌भुत सत्त्व सहज आनन्द प्रकट होता है । तो यह सानन्द, यह शान्ति मिलती है आत्मा के सत्य ज्ञान से । और आत्मा के सत्य ज्ञान तक वही पहुंच सकता है जो द्रव्य-पर्याय की दृष्टि रखकर अपने आपका निर्णय बनाये । तो हे प्रभु ! आपके सिद्धान्त में एकान्त-दृष्टि का प्रतिषेध हुआ है उससे यह अवसर मिला कि ज्ञानरूपी सम्यग्ज्ञान के बाणों के द्वारा, न्याय के बाणों के द्वारा मोहरूपी शत्रु का निराकरण किया जाता है ? ऐसा मोह का निराकरण करके हे प्रभु ! आप कैवल्यविभूति के सम्राट हो, अर्थात् केवलज्ञान के द्वारा आपने समस्त लोकालोक को निकट से जाना । तो आप चूंकि कैवल्यविभूति के सम्राट हैं अथवा कहो कि आत्मा यदि एक रह जाये, प्योर रह जाये, मात्र वही-वही स्वरूप रह जाये तो यह एक इतनी बड़ी ऊँची विभूति है कि ऐसी स्थिति में ही अनंत आनन्द प्रकट होता है । तो ऐसी इस कैवल्यविश्रुति के प्रभु ! आप सम्राट हो, इस कारण हे अरहंतदेव ! आप मेरे स्तवन करने क योग्य हो । इस प्रकार श्रेयांसनाथ जिनेन्द्र की स्तुति पूरी हुई ।

(१२) श्री वासुपूज्यजिनस्तवनम्

(उपजातिछन्द)

छन्द ५६

शिवासु पूज्योऽभ्युदय क्रियासु त्वं वासुपूज्यस्त्रिदशेन्द्र पूज्यः ।

मयापि पूज्योऽल्पधिया मुनोन्द्रः दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः ।।५६।।

अन्वयार्थ—(हे मुनीन्द्र !) हे गणधरादि मुनियों के स्वामी ! **(शिवासु)** कल्याणकारिणी **(अभ्युदयक्रियासु)** स्वर्गावतरण आदि कल्याणकों की क्रियाओं में **(पूज्यः)** पूज्य **(वासुपूज्यः)** वासुपूज्य नाम को धारण करने वाले **(त्वम्)** आप चूकि **(त्रिदशेन्द्रपूज्यः)** इन्द्र तथा चक्रवर्ती आदि के द्वारा पूज्य है अतः **(अल्पधिया)** अल्पबुद्धि के धारक **(मयापि)** मुझ समन्तभद्र के द्वारा भी **(पूज्यः)** पूज्य हैं **(किं)** क्या दीपार्चिषा) दीपशिखा के द्वारा **(तपनः)** सूर्य **(न पूज्यः)** पूजनीय नहीं होता ?

प्रभु की वासुपूज्यता—वासुपूज्य भगवान की स्तुति में कह रहे हैं कि हे प्रभु ! तुम समस्त उच्च अभ्युदय वाली क्रियावों में पूज्य रहे । जैसे गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणक, तपकल्याणक, ज्ञानकल्याणक, निर्वाणकल्याणक—ये तो मुख्य हैं, पर इसके अंतर्गत और-और भी जितनी अभ्युदय की क्रियायें थीं उन समस्त कल्याणकारी क्रियावों में आप पूज्य हो । गर्भकल्याणक हो तो क्यों देव-देवियां आ-आकर माता की सेवा करते हैं? क्यों इन्द्र को चिन्ता होती है, हर्ष होता है, उनके प्रबंध की व्यवस्था का उत्सव मनाते हैं ? उसका कारण यह है कि जो आत्मा वीतराग सर्वज्ञ होने वाला है वह आत्मा यहाँ अवतार लेगा, इसको कहते हैं अवतार । याने स्वर्ग और ऊपर के स्थानों में जो देव होते हैं, जिन्होंने तीर्थंकर प्रकृति बांध ली थी वे वहीं से चलकर तीर्थंकर बनते हैं । तो अवतार कहते हैं उतरने को, ऊपर से नीचे आये इसका नाम है अवतार । वही नरक गति से भी आकर तीर्थंकर होते हैं और उनके पांचों कल्याणक भी होते हैं, पर ऐसे बहुत कम जीव हैं । अधिकतर तो स्वर्ग और कल्पांतर के वासी देव तीर्थंकर बनते हैं, तो महिमा किसकी रही? वीतराग सर्वज्ञ आत्मा होगा उसकी महिमा है । तो ऐसे पुरुषोत्तम के अवतार के समय क्यों इन्द्रादिक सभी आकर्षित होते हैं? सभी की यह भावना है कि कैसे मैं संसार के संकटों से छूट जाऊं? संसार का संकट है; मोह, राग और द्वेष । बाह्य पदार्थों से कोई संकट नहीं आता । मान लो धन नहीं रहा तो क्या संकट अथवा कोई परिजन न रहा तो क्या संकट? कोई प्रतिकूल चल रहा, तो चलने दो, उसका परिणमन है, क्या संकट? विकल्प जो बन रहा है व्यर्थ का, बिना काम का । मेरे को यह यों कहता है, मेरा हुक्म नहीं मानता है आदिक जो भी भाव बना रखा है वे राग के भाव इस जीव को परेशान करते हैं । महोत्सव है यह कि वैराग्य का उदय आये, वैराग्य जगे चित्त में, इससे बढ़कर और समारोह कुछ नहीं हो सकता, क्योंकि सर्व विषयों से राग हट जाना यह सबसे ऊँचे उत्कर्ष की बात है । राग तो कलंक है, कीचड़ है । बाह्य वस्तु में चित्त जमाया है, मेरा घर है, मेरा परिवार है, मेरी स्त्री है, मेरा पुरुष है, मेरा पुत्र है । है कुछ नहीं, घर आदि भिन्न पदार्थ हैं, लेन-देन नहीं, सम्बंध नहीं, और व्यर्थ ही राग बनाकर दुःखी होते हैं । तो सर्व दुःखों का कारण जो मोह, रागद्वेष है उससे छुटकारा मिले, इससे बढ़कर और कोई समारोह हो सकता है क्या? जिसे कहते हैं नया दिन । जीव का नया दिन यह है ज्ञान जगे, वैराग्य जगे । तो जिस आत्मा के ज्ञान और वैराग्य जगा हुआ है ऐसा जीव अवतार लेगा और वह प्रभु बनकर जगत के जीवों का उद्धार करेगा, यह सब ज्ञान है इन्द्र इस ही कारण आकर्षित है । सबसे बड़ा नाता है वीतरागता का । बड़े-बड़े इन्द्र चक्रवर्ती यदि किसी तत्त्व पर आकर्षित हैं तो वह है वीतरागता । धन पर कोई भी शुद्ध भाव करके आकर्षित नहीं होता । धनी-मानी नेताओं पर कोई भी पुरुष शुद्ध भाव से आकर्षित नहीं होता, बस स्वार्थवश ही

आकर्षित होते सो उसकी कीमत कितनी? वह संबंध टिक नहीं सकता, पर वीतरागता का नाता एक ऐसा पुष्ट नाता है कि जिसमें पवित्रता बढ़ती है, सन्तोष बढ़ता है, शान्ति पनपती है, उद्धार का मार्ग मिलता है और कभी पूर्णतया वीतराग बनकर सदा के लिए कृतकृत्य हो जायेगा यह बात बनती है ।

केवल होने की धुन वाले की सदा प्रभु की अन्तर्भक्ति —चित्त में प्रोग्राम रखना चाहिए केवल शुद्ध होने का । खालिस मैं आत्मा, आत्मा ही रहूं, इसके साथ अन्य कुछ लेप न रहे, इसका प्रोग्राम चित्त में चलना चाहिए । सफल चाहे कभी हों । जैसे बहुत से लोग या कुछ पार्टी ५ वर्ष बाद चुनाव में खड़े होते और बीसों वर्ष तक फेल होते जाते, मगर हिम्मत नहीं हारते । आशा लगाये हैं कि कभी तो सफल हो ही जायेंगे । तो ये तो लौकिक बातें हैं, पर मुक्ति के प्रोग्राम की बात तो इतनी पुष्ट होना चाहिए कि वह चाहे जीवनभर सफल न हो और कई जीवन भी लग जायें, अगर इस जीव को चारा और है ही क्या? सिवाय मुक्ति का मार्ग बनाने के इस बोध को और कोई चारा ही नहीं, न और कोई शरण है । तो जो उस मुक्ति के मार्ग का रुचिया है वह मुक्तिमार्ग के प्रेमियों से, मुक्तिमार्ग में लगे हुए लोगों से विशुद्ध वात्सल्य रखता है । उसका प्रेम दूसरों के लिए नहीं, किन्तु पंच परमेष्ठियों के लिए है, उसकी उपासना अन्य किसी के लिए नहीं बनती । शुद्ध और शुद्ध होने के प्रयत्न में लगे हुए जीवों पर ही उनकी उपासना जगती है । इतना कोई भीतर में एक फकीराना पा सके, एक विरक्ति पा सके वह पुरुष धन्य है और उसकी शान्ति को भंग कर सकने वाला दुनिया में कोई समर्थ नहीं हो सकता । जो शुद्ध ज्ञानमार्ग में लगा हुआ हो उसकी शांति को भी कोई भंग नहीं कर सकता । तो, यही कारण है कि बड़े-बड़े देवेन्द्रों द्वारा, प्रतीन्द्रों द्वारा ये प्रभु पूज्य हुए । हे वासुपूज्य भगवान ! तुम बड़ी ऊंची अभ्युदय वाली मांगलिक क्रियावों में पूज्य रहे अथवा जो कोई भी कुछ अपनी क्रियायें करता है, घर के भी और लौकिक काम भी करता है, उन कामों में लोग प्रभु का स्मरण किया करते हैं, मकान बनायें, दुकान बनायें, विवाह-शादी हो और कोई भी छोटे से छोटे कार्य हों उनमें प्रभुस्मरण किया जाता है, और इस बात को तो बड़े-बड़े आचार्यों ने कहा कि चाहे एक बार अलौकिक कामों में प्रभु का नाम न ले सकें तो न ले, मगर लौकिक जितने भी काम करने चलें, घर आयें, कहीं जावें, कहीं बैठें, सगाई शादी के या और-और जो भी काम करें, उन सब कामों में प्रभु का स्मरण करना चाहिए । तो हे प्रभु ! आप सर्व मांगलिक क्रियाओं में पूज्य हो ।

दीपक द्वारा सूर्य का आदर किये जाने की लोकप्रथा की तरह अल्पबुद्धि द्वारा भी त्रिदशेन्द्रपूज्य प्रभु की पूज्यता की युक्तता—प्रभो ! आपका नाम वासुपूज्य क्यों है ? तो वासव नाम है इन्द्र का, देव का और वासवों के द्वारा जो पूज्य हो सो वासुपूज्य । यह शब्द ही आपकी विशेषता को बता रहा है कि आप त्रिदशेन्द्र पूज्य हो । त्रिदश कहते हैं देव को, तीनों दशायें जिसकी एक हों वह त्रिदश है, बच्चा, जवान, बूढ़ा, वे सब सदृश हैं, उन देवों के द्वारा आप पूज्य हो । आपकी पूज्यता तो बड़े-बड़े महान् अधिपतियों द्वारा है । यह तो ठीक है, किन्तु लोक में अल्पबुद्धि मेरे द्वारा जो आप पूज्य बन रहे हैं हे प्रभु ! सो भी युक्त ही है । जैसे कि लोक में सूर्य की पूजा दीपक से की जाती तो सूर्य तो महान् है, बड़ा कान्तिमान है और यह दीपक यह छोटे प्रकाश वाला टिमटिमाता हुआ और उसके द्वारा सूर्य की पूजा करते हैं लोग तो यह ही बात यहा चल रही है कि आप तो बड़े-बड़े इन्द्रों द्वारा पूज्य हो, पर मैं मंदबुद्धि वाला होकर भी पूज रहा हूं सो सही है । क्या दीप की किरणों से

सूर्य पूज्य नहीं चल रहा लोक में ? अथवा जैसी जिसमें जितनी शक्ति है वह अपनी शक्ति का प्रयोग करके उपासना करता है । बड़े-बड़े मुनीन्द्र अपनी उच्च अनुभूति द्वारा उस सहज परमात्मतत्त्व की, प्रभुस्वरूप की उपासना किया करते हैं । यों जिसमें जितनी सामर्थ्य है अपनी बुद्धि अनुसार उसकी उपासना करता है, पर धुन प्रतीति सबके लिए एक समान कही जायेगी । तो मैं अल्पबुद्धि होकर भी हे प्रभु ! मैं आपकी पूजा में प्रवृत्त हो रहा हूं तो इसमें एक आपके प्रति तीव्र भक्ति ही कारण है ।

छन्द ५७

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ ! विवान्तवैरे ।

तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिन:: पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्य: ।।५७।।

अन्वयार्थ—(नाथ) हे स्वामिन् ! यद्यपि **(वीतरागे)** राग से रहित **(त्वयि)** आपमें **(पूजया)** पूजा के द्वारा **(अर्थ: न)** प्रयोजन नहीं है और **(विवान्तवैरे)** वैर से रहित आपमें **(निन्दया)** निन्दा के द्वारा **(अर्थ: न)** मतलब नहीं है **(तथापि)** तो भी **(ते)** आपके **(पुण्यगुणस्मृति:)** प्रशस्त गुणों का स्मरण **(न:)** हमारे **(चित्तं)** मन को **(दुरिताञ्जनेभ्य:)** पापरूपी अञ्जन से **(पुनातु)** पवित्र करें—दूर रक्खें ।

वीतरागदेव का पूजानिरपेक्षत्व—हे प्रभु ! आप वीतराग हो । पूजा से आपका कोई प्रयोजन नहीं और आप बैररहित हो, इस कारण निन्दा से भी आपका कोई मतलब नहीं तो भी याने आप पूजा से प्रसन्न नहीं होते और निंदा से दु:खी नहीं होते । पूजा करने वाला आपसे कुछ चाहे तो आप उसे कुछ देते नहीं, फिर भी आपके पवित्र गुणों की स्मृति हम लोगों के चित्त को पवित्र करे । प्रभु की उपासना के प्रसाद से केवल एक ही कामना रहे कि मेरी भावों में विशुद्धि जगे तो वह सच्ची पूजा है । एक ही बात रहना चाहिए । केवल एक ही प्रयोजन हो तो सर्व सिद्धि हो जायेगी, और जो अनेक बातें चित्त में सोचे कि हे प्रभो ! मेरा यह काम भी बने, वह काम भी बने, तो उसका कहीं भी पूरा नहीं पड़ता । केवल एक ही भाव रखें कि हे प्रभु ! मैं आपकी उपासना के लिए इसलिए गया हूँ कि मेरे परिणाम गंदे न रहें, विषयवासना से विरक्त हैं । आत्मस्वरूप की उपासना के लिए मुझ में जागृति हो, आत्मा की विशुद्धि हो तो यह बात प्रभु के गुणों के स्मरण में हो ही जाती है । तो प्रभु वीतराग हैं सो वे अपने आनन्द के लिए हैं । उन्हें पूर्ण आनन्द मिल चुका है । अब कोई पूजा करे, कोई यश गाये, कोई गुण गाये तो वह न कुछ चीज है । जैसे यहीं कोई बहुत बड़ा ऊँचा लोकमान्य पुरुष हो तो उसके सामने कोई साधारण गुणानुवाद करे तो उसका उस पर क्या प्रभाव पड़ता है? वह तो उसे न कुछ समझता है, यह तो लोक रीति है । भगवान तो अनन्त आनन्द में मग्न हैं, उनकी कोई पूजा कर ही क्या सकता है? जो कोई जो कुछ भी कहेगा वह उनके लिए न कुछ हैं याने गुण का लवलेश भी वर्णन में नहीं आता । तो प्रभु वीतराग हैं अतएव अनंत आनन्द में मग्न है, उनको पूजा से क्या प्रयोजन है?

प्रभु का निर्वैरत्व—प्रभु बैररहित हैं, विनाशबैर याने विशेषरूप से वमन कर दिया है बैर को जिसने । रोग के हटने का बहुत जल्दी का उपाय वमन है । कोई विकार हो गया और वमन हो गया तो फिर उस रोग के हटने

में ज्यादा दिन न लगेंगे । भगवान भी तो आखिर पहले संसारी प्राणी ही तो थे, वह भी बैर के रोगी थे, पर इस रोग का ऐसा वमन किया विशेषरूप से कि अब वे पूर्ण स्वस्थ हैं । अपने आत्मा में स्थित हैं । तो आपने बैर को हटा दिया तो अब निन्दा से क्या मतलब रहा? निन्दा से कोई उनपर दुष्प्रभाव नहीं पड़ता । तो आपने खुश होकर किसी को कुछ देते हैं नहीं, किसी पर रुष्ट होकर किसी का कुछ हरते हैं नहीं ।

वीतराग देव की भक्ति-पूजा से भक्तात्मा के पवित्रता का अभ्युदय—प्रभो ! न आप खुश ही होते, न रुष्ट हो होते, फिर भी ऐसा परम उदासीन अनन्त सहज आनन्दमय प्रभु के गुणों का स्मरण नियम से चित्त को पवित्र करता है । कुछ लोग शंका करते हैं कि भगवान की पूजा करते हैं, उपासना करते हैं, भक्ति करते हैं तो कुछ फायदा न हो, कुछ सिद्धि न हो, कुछ आनंद न आये ऐसा हो ही नहीं सकता । मगर प्रभु की पूजा, प्रभु का दर्शन हो सके तो नियम से आनन्द और शान्ति मिलेगी । प्रभु क्या हैं ! दिखने वाली मूर्ति या समवशरण आदिक आकार ? ये प्रभु नहीं हैं, किन्तु एक ऐसा ज्ञानपुञ्ज जो निर्दोष हुआ, जिसमें मोह रागद्वेष का लवलेश नहीं, जो इतना स्वच्छ है कि समस्त सत् उनके ज्ञान में युगपत् प्रतिभासित होते हैं, ऐसा जो ज्ञानपुञ्ज है वह है प्रभु और इसकी जो सुध लेगा उसको अपनी भी सुध आयेगी और प्रभु में अपना मिलान बनेगा और गुणानुवाद करता-करता कभी अभेद बन जायेगा, यह अलग प्रभु अलग हमारी भी दृष्टि न रहेगी । एक चेतना में चैतन्यस्वरूप हो रहा, ऐसा अनुभव जगेगा । ऐसा दर्शन बने तो उसको अनंत आनंद, अनन्त शक्ति अवश्य होगी और तत्काल ही सर्व अशान्ति मेरी नष्ट हो जाती है । तो हे प्रभु ! तुम्हारे पवित्र गुणों का स्मरण हम लोगों के चित्त को पवित्र करे ।

छन्द ५८

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ ।

दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ: ।।५८।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! **(पूज्यं)** इन्द्र आदि के द्वारा पूजनीय तथा **(जिनं)** कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाले **(त्वा)** आपकी **(अर्चयत:)** पूजा करने वाले **(जनस्य)** मनुष्य के जो **(सावद्यलेश:)** सरागपरिणति अथवा आरम्भादिजनित थोड़ा-सा पाप का लेश होता है वह **(बहुपुण्यराशौ)** बहुत भारी पुण्य की राशि में **(दोषाय)** दोष के लिये **(अलं न)** समर्थ नहीं है क्योंकि **(विषस्य)** विष की **(कणिका)** अल्पमात्रा **(शीतशिवाम्बुराशौ)** शीतल एवं आह्लादकारी जल से युक्त समुद्र में **(दूषिका न)** दोष उत्पन्न करने वाली नहीं है ।

प्रभु की अर्चा की पुण्यरूपता—हे वासुपूज्य जिनेन्द्रदेव ! तुम पूज्य की पूजन करने वाले मनुष्य के कुछ पाप लग भी जाता है जैसे द्रव्य-पूजा करे कोई तो जल लाने आदिक कार्यों में कोई एकेन्द्रिय जीव का विघात हो भी जाता है तो भी आपके पूजने के भाव में जो बहुत विशाल पुण्यबंध होता है, पुण्य पवित्र भाव होता है उस पुण्य राशि में यह थोड़ासा सावद्य दोष करने के लिए नहीं बन पाता । जैसे कि बहुत बड़ा समुद्र हो, जिसमें बहुत ठंडा, मधुर पानी रहता है उसमें विष की एक कणिका मात्र उस समुद्र को दूषित नहीं कर सकती है । इस छंद में यथार्थ स्थिति बतायी है । जो जीव आत्मस्वरूप की उपासना की धुन में है वह पुरुष उदयवश गृहस्थी में

उसके अनेक घटनायें घटती हैं, उपयोग बदलने के अवसर आते हैं, उस समय यह जिनेन्द्र भगवान का पूजन वंदन जाप आदिक षट् कार्यों में लगता है तो उन षट् कार्यों में लगने के लिए उसको आलम्बन चाहिए तो वही आलम्बन है पूजा आदिक । सो इन पूजा आदिक आलम्बनों में लगे हुये इस भक्त के कुछ थोड़ा बहुत पाप का लेश भी हो जाता है तो भी भाव इतना ऊंचा है, जिनेन्द्र के गुणों के स्मरण का भाव है कि वहाँ जो बहुत पवित्र पुण्यभाव बनता है उस राशि में इतना लेश दोष के लिए नहीं हो पाता । दृष्टान्त भी बहुत व्यावहारिक है और पक्षसिद्ध है । विशाल समुद्र में विष की एक कणिका का क्या अर्थ है? उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता । ऐसे ही कुछ थोड़ा बहुत मन से, वचन से, काय से थोड़ा सावद्य लेश लग जाये तो इस जीव की अशान्ति के लिए नहीं होता ।

छन्द ५९

यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूते र्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः ।

अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूतमभ्यंतरं केवलमप्यलं ते ।।५९।।

अन्वयार्थ—(यद् वस्तु) जो पुष्पादिक पदार्थ **(गुणदोषसूतेः)** पुण्य और पाप की उत्पत्ति के **(बाह्यं)** बहिरङ्ग **(निमित्त)** कारण हैं **(तद्)** वह **(अध्यात्मवृत्तस्य)** आत्मा में प्रवर्तने वाले **(अभ्यन्तरमूलहेतोः)** अन्तरङ्ग—उपादानरूप मूलकारण का **(अङ्गभूतं)** सहकारी कारण है । हे भगवन् ! **(ते)** आपके मत में **(अभ्यन्तरं)** अन्तरङ्ग कारण **(केवलमपि)** बाह्य वस्तु से निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों ही प्रकार का **(अलं)** गुण-दोष की उत्पत्ति में समर्थ है ।

पुण्यकारिणी प्रभुपूजा की महिमा का कारण अन्तर्भावना—मनुष्यों के गुण और दोषों के उत्पन्न होने के निमित्त बाह्य वस्तुवें भी होती हैं । तो जो बाह्य वस्तु गुण और दोष की उत्पत्ति में निमित्त बनती है सो अंतरंग भावरूप मूल कारण से बनती है । बाह्य पदार्थ—आश्रयभूत पदार्थ, शुभ-अशुभ भाव में कब निमित्त बनते हैं ? जब कि उस प्रकार का भीतर में राग वैराग्य भाव बनता हो । तब बाह्य वस्तु भी गुण और दोष के उत्पन्न होने में निमित्त होती है । जैसे किसी के क्रोधादिक कषाय जगे तो जब क्रोधादिक कषायों की व्यक्ति होती है तो उसके अभिप्राय में किसी न किसी वस्तु पर चैतन्य दृष्टि जगती है और उसको विषय बनाकर क्रोधादिक कषाय व्यक्त होती है । तो ये बाहरी पदार्थ, परिजन या अन्य कोई जो क्रोध का निमित्त बने सो अंतरंग में क्रोध का कारण क्या? खुद की योग्यता और उस प्रकार के कर्म का उदय । सो इस अंतरंग मूल हेतुवों के बल पर बाह्य वस्तु दोष उत्पन्न होने में निमित्त नहीं बना, इसी प्रकार किसी के विद्या आती है, ज्ञान बढ़ता है तो उसमें बाह्य निमित तो गुरुजन आदिक पड़ते हैं, मगर गुरुजन बाह्य निमित्त कब बने, जब कि इस जीव के ज्ञान की योग्यता है और ज्ञानावरण का वहाँ क्षयोपशम है, परन्तु हे समाधिप्रिय समाधिवत् प्रभु ! आपका जो अध्यात्म चरित्र है वह शुभ-अशुभ भाव से उठा हुआ है ना, शुभ-अशुभ भाव से रहित है ना तो इस अध्यात्मवृत्त का कारण बस एक यही अभ्यंतर है मायने आपके इतनी निर्मलता है कि उस निर्मलता के कारण विशुद्ध-विशुद्ध ही परिणमन होता चला जा रहा है । अध्यात्मवृत्त स्वास्थ्य अर्थात् आत्मस्थिति आपके निरन्तर चल रही है, इसका कारण बाह्य क्या बतायें? फिर भी ऐसी स्थिति पाने से पूर्व जो भी पौरुष था उस पौरुष के समय बाह्य भी निमित्त और अंतरंग भी

निमित्त था । तो प्रभु ! आपका ऐसा पावन स्वरूप है, ऐसा अपूर्व गुणविकास है कि अब उसके लिए किसी की अपेक्षा न रही । अपने आप ही निरपेक्ष होकर आत्मा में वह विकास बराबर चल रहा है । प्रभु निरपेक्ष हैं, आनन्द की मूर्ति हैं, गुणों का उत्कृष्ट विकास है और यही एक ऐसा ऐश्वर्य है कि जिसमें किसी की अधीनता नहीं होती । ऐश्वर्य नाम उसी का ही है । 'ईश्वरस्य भावा: ऐश्वर्य:,' ईश्वर नाम है स्वतंत्र का, निरपेक्ष का, जो अपने आपके काम में, वैभव में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं होती, उसे कहते हैं ऐश्वर्य । प्रभु के अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द के विकास में किसी की भी अपेक्षा नहीं है । ऐसे ऐश्वर्य-सम्पन्न हे प्रभो ! आपका जो अध्यात्मवृत्त है, जो शुद्ध परिणमन है उसका अंतरंग कारण केवल आपका ही सहज स्वरूप है ।

छन्द ६०

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगत: स्वभाव: ।

नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ।।६०।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! **(कार्येषु)** घट आदि कार्यों में **(इयं)** यह जो **(बाह्येतरोपाधिसमग्रता)** बाह्य और अभ्यन्तर कारणों की पूर्णता है वह **(ते)** आपके मत में **(द्रव्यगत:)** जीवादि द्रव्यगत **(स्वभाव:)** स्वभाव है **(अन्यथा)** अन्य प्रकार से घटादि की विधि ही नहीं किन्तु **(पुंसां)** मोक्षाभिलाषी पुरुषों के **(मोक्षाविधिश्च)** मोक्ष की विधि भी **(नैव)** घटित नहीं होती है **(तेन)** इसीलिये **(ऋषि)** परम ऋषियों से युक्त **(त्वम्)** आप **(बुधानां)** गणधरादि बुधजनों के **(अभिवन्द्य:)** वन्दनीय है ।

कार्यों में बाह्येतरोपाधिसमग्रता की आवश्यकता पर प्रकाश—जो भी कार्य बनता है वह बाह्य और अन्तरंग कारण की समग्रता पूर्वक बनता है । तो ऐसा होना अर्थात् प्रधान कारण, निमित कारण, समर्थ कारण हो जाने पर कार्य बन जाना यह द्रव्यगत स्वभाव है । हे प्रभो ! ऐसा तुम्हारा सिद्धान्त है । जहाँ यह कहा जा सकता है कि निमित्त उपादान में कुछ नहीं करता, फिर भी निमित्त की उपस्थिति बिना उपादान में कार्य नहीं होता, इसका तथ्य क्या है? तथ्य यही है कि परिणमने वाले द्रव्य का एक ऐसा स्वभाव है कि वह ऐसे अनुकूल निमित्त को पाकर अपने में यह कार्य कर लेता है । जैसे कोई पुरुष बैठ गया, जमीन पर ही बैठ गया हो ऐसा बैठना उसका बाह्य और अंतरंग उपाधिपूर्वक हुआ । उसमें बैठने का सामर्थ्य है और बाह्य में पृथ्वी आदिक निमित्त है । तो कोई कहे कि पृथ्वी ने बैठाया क्या? पृथ्वी ने बैठने वाले पर कुछ किया क्या? कुछ नहीं । पृथ्वी अपने प्रदेशों में अपना परिणमन भरती हुई ही रहती है, फिर भी पृथ्वी के बिना क्या वह इस प्रकार बैठ गया? नहीं बैठा । तो निमित्त ने कुछ किया नहीं और निमित्त बिना वह बात हुई नहीं । इसमें रहस्य क्या है? इसका रहस्य यही है कि बैठने वाले की ऐसी ही प्रकृति है कि वह जमीन को, बेंच को, किसी भी पदार्थ को निमित्तमात्र करके अपनी शक्ति से, अपने बल से अपने आपमें ऐसी परिणति कर लेता है; यह द्रव्यगत स्वभाव है ।

द्रव्यगत स्वभाव के अपरिचयी के निमित्तनैमित्तिक घटना में कर्तृकर्मत्व का संदेह—द्रव्यगत स्वभाव को न पहिचानने वाले लोग पर में कर्तृत्व देखा करते हैं । कुर्सी ने इसे बैठा दिया, जमीन ने इसे बैठा दिया, अमुक पुरुष ने इसे क्रोध दिला दिया, ये तो हैं सब बाह्य निमित्त, पर वास्तविकता की दृष्टि से देखें तो कर्म का उदय

आया याने विशेष अनुभाग सहित कर्म उदय में आये तब भी कर्म ने जीव को उपयोगी नहीं बनाया, किन्तु उस कर्मोदय का निमित्त पाकर उपयोग में अनुभाग की झाँकी हुई और उस ही को बढ़ावा देकर जीव ने व्यक्त विकार बनाया । तो यह एक उपयोग का स्वभाव है, प्रकृति है, योग्यता है कि वह किस अनुभाग का सान्निध्य पाकर किस प्रकार विकाररूप परिणम जाता है । जैसे दर्पण के सामने कोई लाल पीली चीज रख दी, दर्पण में लाल पीला प्रतिबिम्ब बन गया तो बतलावो क्या उस लाल पीले पदार्थ ने दर्पण में प्रतिबिम्ब किया? सो तो नहीं किया, क्योंकि वह पदार्थ तो दूर ही बैठा है, उसकी कोई चीज बाहर निकलकर दर्पण में नहीं गई । तो क्या उस लाल पीले का सामना आये बिना दर्पण में ऐसा प्रतिबिंब बन जाता? नहीं बनता । निमित्त ने प्रतिबिम्ब किया नहीं और निमित्त के सान्निध्य बिना प्रतिबिम्ब बना नहीं । स्थिति है ऐसी । सभी जगह ऐसी ही स्थिति है और अनादि से यही रीति चली आयी । बस, जो अज्ञानी जीव हैं, वस्तुगत स्वभाव को नहीं पहिचानते हैं वे तो परकर्तृत्व निरखते हैं । पर ने जकड़ लिया, दीवार ने जकड़ लिया, बच्चों ने हैरान कर दिया । इस तरह परकर्तृत्व देखते हैं अज्ञानी जन । और ज्ञानी जन देखते हैं कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ नहीं करता, विभावरूप योग्यता रखने वाला यह जीव किसी बाह्य को निमित्तमात्र करके अपने आपमें यह क्लेश उत्पन्न कर लेता है । तो बाह्य और अंतरंग उपाधियों की यह समग्रता इस कार्य में कारण बनती । यह सब परिणममान द्रव्य का द्रव्यगत स्वभाव है ।

मोक्षविधि की प्रयोग्यता के निर्देशक प्रभु की अभिवन्द्यता—मोक्ष की विधि में भी ऐसा ही प्रयोग चलता है । जो निकट विधि है उसमें केवल एक आध्यात्मिक भाव ही है और जो परम्परा विधि है, जिन शुभ भावों के बाद शुद्ध समाधि बनती है वह सब बाह्य उपाधि और अंतरंग योग्यता की समग्रता पर निर्भर है । ऐसा तत्त्व, ऐसा रहस्य हे प्रभु ! आपने बताया, इस कारण बड़े-बड़े विद्वज्जनों के द्वारा आप अभिवंदनीय हो । जो मोक्ष का मार्ग बताये उससे बढ़कर और आभार किसका माना जाये ? सदा के लिए संसार के संकटों से छूट जाना, यह है सर्वोच्च पौरुष । इससे बढ़कर और कोई पवित्र कार्य नहीं हो सकता । लेकिन जो यहा थोड़े समागम में रत है, आसक्त है, अपने को चतुर समझता है, किसी को धोखा दे दिया, पैसे ज्यादा आ गए तो समझता है कि मैंने बड़ी चतुराई की, पर भीतर सब प्राकृतिक हिसाब चल रहा है । जैसा भाव वैसा बंध, जैसा उदय होगा वैसा इसको क्लेश, उसमें कोई फेर-फार नहीं कर सकता । खुद का ही विशिष्ट बल हो तो परिवर्तन हो सकता है । तो यह सब रहस्य हे प्रभु ! आपने बताया इस कारण आप बुद्धिमान जनों के द्वारा वंदनीय हैं । इस प्रकार यहाँ वासुपूज्य जिनेन्द्र भगवान का स्तवन समाप्त हुआ ।

(१३) श्रीविमलजिनस्तवनम्

(वंशस्थच्छन्द)

छन्द ६१

य एव नित्यक्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षाः स्वपरप्रणाशिनः ।

त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिणः ।।६१।।

अन्वयार्थ—(य एव) जो ही **(नित्यक्षणिकादयः नयाः)** नित्य अथवा क्षणिक आदि नय **(मिथ्याऽनपेक्षाः)** परस्पर में निरपेक्ष होकर अन्य मतों में **(स्वपरप्रणाशिनः)** निज और पर का नाश करने वाले हैं **(ते एव नयाः)** वे ही नय **(परस्परेक्षाः)** परस्पर की अपेक्षा रखते हुए **(स्वपरोपकारिणः)** निज और पर का उपकार करने वाले होकर **(मुनेः)** प्रत्यक्षज्ञानी **(ते)** आप **(विमलस्य)** विमल जिनेन्द्र के मत में **(तत्त्वं)** वस्तुस्वरूप **(भवन्ति)** होते हैं ।

परस्पर निरपेक्ष नयों की स्वपरप्रणाशिता एवं परस्पर सापेक्ष नयों की स्वपरोपकारिता—विमलनाथ भगवान के स्तवन में कह रहे हैं कि हे विमलनाथ ! हे मुनीश्वर ! तुम्हारे सिद्धान्त में यह तत्त्व बताया है कि नय अगर परस्पर अपेक्षा न रखे, निरपेक्ष हो तो वह मिथ्या होता है । कोई भी नय हो, नित्य की बात हो, क्षणिक की बात हो, कोईसा भी मत हो, अगर एक-दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता है तो वह मिथ्या है और अपने और पर का विनाश करने वाला है ! कैसे है अपना और पर का विनाश करने वाला कि उन एकान्त दृष्टियों से खुद को भी सन्मार्ग नहीं मिलता और जिसको समझाता है वह भी सन्मार्ग से अलग रहता है इसलिए अपना भी विनाश किया और दूसरे का भी । यह तो हुई आत्मकल्याण की बात और लौकिक बातें देखो जैसे कोई मनुष्य मानता है कि पदार्थ नित्य ही है, उसमें हेर-फेर होता ही नहीं, तो न तो घर चलेगा, न दुकान चलेगी, न खा पी सकेंगे, कुछ भी न होगा । तो यों भी अपने और पर को बरबाद किया, होता नहीं बरबाद, वह तो केवल गप्प ही गप्प है, काम सब चलता है, पर ऐसा सिद्धान्त भी किस काम का है कि जिससे न व्यवहार बने, न आत्मोद्धार बने । तो हे प्रभु ! आपके सिद्धान्त में यह रहस्य बताया कि सभी नय अगर परस्पर में अपेक्षा रखते हैं तो वे अपने को और पर को उपकार के मार्ग में लगाने वाले हैं, शान्ति संतोष में रखने वाले हैं । तो हे प्रभु ! चूंकि आप मलरहित हैं, दोषरहित हैं, अज्ञानरहित हैं, इस कारण आपके सिद्धांत में तो यथार्थ ही वर्णन है और इस वर्णन का जो प्रयोग करते हैं वे अपना और दूसरों का भला करते हैं ।

छन्द ६२

यथैकशः कारकमर्थसिद्धये समीक्ष्य शेषं स्वसहायकारकम् ।

तथैव सामान्यविशेषमातृका नयास्तवेष्टा गुणमुख्यकल्पतः ।।६२।।

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार **(एकशः)** एक-एक **(कारकम्)** उपादानकारण या निमित्तकारण **(स्वसहायकारकं)** अपनी सहायता करने वाले **(शेषं)** अन्य कारक की **(समीक्ष्य)** अच्छी तरह अपेक्षा करके **(अर्थसिद्धये)** कार्य की सिद्धि के लिये समर्थ होता है **(तथैव)** उसी प्रकार **(सामान्यविशेषमातृका)** सामान्य और विशेष से उत्पन्न अथवा सामान्य और विशेष को जानने वाले एवं **(गुणमुख्यकल्पतः)** गौण और मुख्य की कल्पना से **(तव)** आपको **(इष्टाः)** अभिप्रेत **(नयाः)** नय **(अर्थसिद्धये)** कार्य की सिद्धि के लिये समर्थ है ।

सहायककारकों से मुक्त कारकों की अर्थसिद्धिकारिता—जैसे कोई एक कारक शेष अपने सहायक कारकों की अपेक्षा रखते हैं तो अर्थ की सिद्धि के लिए होता है । जैसे कुल्हाड़ी से काठ काटते हैं तो केवल कुल्हाड़ी, जिस पर बेंट न लगा हो, आदमी भी न चलाये तो वहाँ अर्थसिद्धि तो नहीं होती । काटने वाली कुल्हाड़ी है, मगर जब सहायक कारक उसमें बेंट नहीं, न कोई उसका चलाने वाला है तो वह अर्थसिद्धि के लिए नहीं है । जैसे मनुष्य काठ काटता है, काटता तो है मनुष्य, मगर मनुष्य न हो, कुल्हाड़ी में बेंट भी न हो तो वह खाली कुल्हाड़ी काठ को काट लेगी क्या? अरे ! काठ काटने के लिए शस्त्र चाहिए, और जो कारण हैं वे सब चाहिए । तो जैसे कोई कारक अपने सहायक कारकों की अपेक्षा रखता है तो वह प्रयोजन की सिद्धि के लिए बनता है उसी प्रकार जितने भी नय हैं वे सामान्य-विशेष से बने हैं । परिचय की मूल बात समझें, चूंकि जो भी सत् है, जो भी है, जीव हो, पुद्‌गल हो, कुछ हो, है, इस कारण वह सामान्य-विशेषात्मक है । जो सामान्य-विशेषात्मक नहीं वह सत् नहीं । तो चूंकि प्रत्येक पदार्थ नियम से, जिसमें कहीं कोई छूट ही नहीं है, सत्त्वस्वरूप ही ऐसा है कि सब पदार्थ सामान्यविशेषात्मक होते हैं ।

सामान्य-विशेष तत्त्वों में नयमातृत्व—सामान्य और विशेष ये तत्त्व हैं—नयों की माता । माता कहते हैं—-पुत्र को जन्माने वाली । तो पुत्र को जन्माने वाली कौन है? ये सामान्य और विशेष । कहते हैं कि द्रव्यार्थिकनय से आत्मा नित्य है । द्रव्यार्थिकनय कहते हैं द्रव्यसामान्य के आलम्बन से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को । पर्यायदृष्टि से आत्मा क्षणध्वंसी है । यह पर्यायदृष्टि कहां से उपजी? विशेष के आलम्बन से उपजी । तो नयों की माता है; सामान्य और विशेष । तो जो सामान्य और विशेष के आलम्बन से उत्पन्न हुए वे नय गौण और मुख्य की कल्पना से इष्ट किए गए हैं । जैसे वस्तु नित्य है तो द्रव्यदृष्टि से नित्य है, सदा रहती है वस्तु, नित्य है वस्तु । अनित्य है तो पर्यायदृष्टि से अनित्य है । तो वस्तु एक साथ बताओ कैसी है ? तो कहते हैं कि वचनों से नहीं कहा जा सकता—अवक्तव्य है । पर अवक्तव्य होते हुए भी नित्यता नहीं गई । तुम्हारे लिए अवक्तव्य है, कुछ नहीं बोल सकते । जिस समय तुम्हारे लिए अवक्तव्य है उसी समय वस्तु में नित्यत्व भी है । कहीं वस्तु ऐसी तो नहीं होती कि आपको अवक्तव्य है तो नित्यत्व; नित्यत्व धर्म यों ही आलसी बना खाट पर पड़ा रहे । जब अवक्तव्य है उसी समय नित्य भी एक दृष्टि ने यह बताया । एक दृष्टि ने यह बताया कि अवक्तव्य होते हुए भी अनित्य है । उसी समय और एक दृष्टि यह कहती है कि अवक्तव्य होते हुए भी नित्य है, और अवक्तव्य अनित्य है । यह ७वीं दृष्टि हुई । सामान्यतया लोग पढ़ लेते हैं तो ऐसा लगता है कि चार बातें तो समझ में आ रही है—नित्य है, अनित्य है, नित्यानित्य है, अवक्तव्य है । चार तक तो अच्छा धंधा चलता है । अब इसके बाद जो तीन भंग हैं—अवक्तव्य नित्य, अवक्तव्य नित्य और अवक्तव्य नित्यानित्य । ये कुछ बेकार से लगते होंगे, मगर इसमें देखो कितनी अधिक ठोस बात बसी हुई है । नित्यत्वने अकेले नित्यत्व की बात कही है एक समय के भंग की बात । अनित्य ने एक बात कही, नित्यानित्य ने दो का एक संबंध वाली बात कही । अवक्तव्य नित्य ने उससे भी जोरदार बात कही । अवक्तव्य है, इसमें एक दृष्टि यह आयी कि उसकी निगाह में दोनों हैं एक साथ, तब तो अवक्तव्य बोल रहा कि नित्य और अनित्य इन दोनों धर्मों को एक साथ नहीं कह सकते । जब अवक्तव्य नित्य कहा तो उसने कितना अधिक परिचय किया यह बात कह रहे हैं, वे अवक्तव्य कह रहे, इसके

मायने यह है कि उसकी निगाह में सब है तब तो अवक्तव्य में सबका भाव आ गया तिस पर भी एक अधिक बात और रखते हैं, क्योंकि वह एक ऐसी दृष्टि है कि अवक्तव्यता ख्याल में रहकर भी वह नित्यत्व की ओर कुछ अधिक बात रख रहा है इस दृष्टि में । जैसे कुटुम्ब का कोई बुजुर्ग है और उसके लिए सब बेटे एक समान है, पक्षपात नहीं करता, फिर भी उसके चित्त में कोई एक बेटा खास रहता है पक्ष न करके भी, एक ऐसी दृष्टि होती है, इसी तरह एक ने कहा अवक्तव्य अनित्य है, पर ७वें भंग ने कितना अधिक एक भरकमपना रखा अपने में कि अवक्तव्य होते समय भी नित्यत्व अनित्यत्व सब एक ही समय में हैं ।

सप्तनयभङ्गी व प्रमाणसप्तभङ्गी—अब एक बात यह भी जानने की है कि ये सातों ही बातें नय की सप्तभङ्गी में चलती हैं और ऐसी ही बातें प्रमाण की सप्तभङ्गी में चलती हैं । यहा बस भीतर के आशय का, मुद्रा का अंतर है कि वही वचन कहते हुए प्रमाण का भङ्ग कहलाया और वही वचन कहते हुए नय का भंग कहलाया । भीतर का झुकाव का अंतर है । तो यह कह रहे कि हे प्रभो ! ये समस्त नय जो सामान्य और विशेष धर्म के बल पर बने हैं वे तब ही इष्ट हैं, तभी काम के हैं, तभी सन्मार्ग में ले जाने वाले हैं जब उनमें गौण और मुख्य की भावना जगती है । केवल एकान्त रहे तो नहीं ।

छन्द ६३

परस्परेक्षान्वयभेदलिङ्गत: प्रसिद्धसामान्यविशेषयोस्तव ।

समग्रतास्ति स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम् ।।६३।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! **(यथा)** जिस प्रकार **(भुवि)** पृथ्वी पर **(स्वपरावभासकं)** स्व और पर को प्रकाशित करने वाला **(बुद्धिलक्षणं)** ज्ञानरूप लक्षण से युक्त **(प्रमाणं)** प्रमाण प्रसिद्ध है **(तथा)** उसी प्रकार **(तव)** आपके मत में **(परस्परेक्षान्वयभेदलिङ्गत:)** परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाले अभेद और भेद के ज्ञान से **(प्रसिद्धसामान्यविशेषयो:)** प्रसिद्ध सामान्य और विशेष की **(समग्रता)** पूर्णता) **(अस्ति)** विद्यमान् है ।

सामान्य व विशेष की परस्परापेक्षा से प्रमाणता का तंत्र दर्शाने वाले प्रभु का स्तवन—तुम्हारे सिद्धान्त में यह बताया गया है कि सामान्य और विशेष का, जो कि प्रमाणसिद्ध है, लोग जानते हैं ऐसे सामान्य और विशेष का अन्वय और भेद बनने से याने अन्वय और भेद के चिह्न से परस्पर अपेक्षा बनती है । प्रत्येक कथन में जो अभी कह रहे सो सामान्य और कुछ आगे और बोलेंगे वह विशेष । कुछ आगे और बोलेंगे तो वह विशेष सामान्य बन गया, अगला विशेष अब विशेष बन गया । तो अन्वय और भेद इन चिह्नों से उनकी परीक्षा बनती है । जैसे अभी कोई कहे कि सब जीव पर दया करनी चाहिए और सब जीवों की रक्षा पर ध्यान देना चाहिए । और वही कहने लगे कि देखो मानवरक्षा करना ही कर्तव्य है तो अब यह दूसरी बात, विशेष बन गई और जब यह कहेंगे कि देखो अपने देशवासियों का ज्यादा ध्यान रखना चाहिए, रक्षा करना चाहिए तो जीवरक्षा के सामने मानवरक्षा विशेष है और राष्ट्रवासियों के सामने मानवरक्षा सामान्य बन गया । क्यों बन गया कि यहा अन्वय है, बहुत पर दृष्टि है, सब राष्ट्रवासियों का संचय किया मानवरक्षा ने और वहा भेद किया । तो इसकी जो परस्पर ईक्षा है वह कैसे बनी कि सामान्य और विशेष में अन्वय और भेद के विशेष से । सो इसकी जो समग्रता है सामान्य

विशेष की, वही स्व और पर का अवभासक है । जैसे कि ज्ञान का लक्षण क्या है ? सही कि जो स्व और पर को प्रकट करे, जाने । यहा प्रकरण चल रहा है वस्तु का । वस्तु कैसी है ? इतनी खटपट क्यों की जा रही है ? बड़ी कठिन बात रखते हैं, समझ में नहीं आता, यह तो सामान्य-विशेष की बड़ी गहरी चर्चा है । सीधा ही क्यों नहीं थोड़ीसी कहानी कह देते ? अरे ! जीव का प्रयोजन है मोह और अज्ञान का मेटना । छोटी-छोटी दिलचस्प बातों में रह-रह करके जीवन भर गंवाया, पर मोह और अज्ञान न मिटा । उस मोह अज्ञान को मिटाने की एक मौलिक युक्ति कही जा रही है । प्रत्येक पदार्थ को देखो; स्वतंत्र है, सदा रहने वाला है, उसकी फैक्ट्री इसी में है, उससे बाहर कुछ नहीं है, शक्तिपुञ्ज है, पर्याय का आधार है, उसका वही सब कुछ है, दूसरा कुछ हो ही नहीं सकता । मैं सामान्यविशेषात्मक हू । यह तो आत्मोद्धार में लगने वालों की पहली **(प्रारम्भिक)** पढ़ाई है अब की । जहा से एक मौलिक बात चलती है । कैसे समझें कि सब पदार्थ एक दूसरे से त्रिकाल अत्यन्त निराले हैं? यह समझ में आये तो मोह कटे । तो उसकी समझ वस्तुस्वरूप के परिज्ञान से होती है । जैसे वस्तु किसरूप है? तो हे प्रभु ! वस्तु का समग्र प्रतिभास से ही कल्याण बनेगा, ऐसा आपके मत में स्पष्ट है ।

छन्द ६४

विशेष्यवाच्यस्य विशेषणं वचो यतो विशेष्यं विनियम्यते च यत् ।

तपोश्च सामान्यमतिप्रसज्यते विवक्षितात्स्यादिति तेऽन्यवर्जनम् ।।६४।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! **(विशेष वाच्यस्य)** वाच्यभूत विशेष का **(तत्)** वह **(वचः)** वचन **(यतः)** जिससे **(विशेष्यं)** विशेष्य **(विनियम्यते)** नियमित किया जाता है **(विशेषणं)** विशेषण कहलाता है और **(यत्)** जो **(विनियम्यते)** नियमित होता है **(तत्)** वह **(विशेष्यं)** विशेष्य कहलाता है **(च)** और **(तयोः)** उन विशेषण और विशेष्य में यद्यपि **(सामान्यमतिप्रसज्यते)** सामान्य का प्रसङ्ग आता है परन्तु **(ते)** आपके मत में **(स्यादिति)** कथंचित् अर्थ के वाचक स्यात् पद के द्वारा **(विवक्षितात्)** विवक्षित विशेषण विशेष्य से **(अन्यवर्जनम्)** अविवक्षित विशेषण विशेष्य का परिहार हो जाता है ।

विशेषण-विशेष्य व्यवहार में विवक्षा से विधि-प्रतिषेध का नियोजन प्रकट करने वाले प्रभु का स्तवन—यहां प्रभु की स्तुति की जा रही है । कोई कठिन चक्की नहीं पीसी जा रही । कैसे प्रभु के गुणानुवाद में अपने को सत्य मार्ग की इष्टि मिलती है? स्तवन का प्रयोजन क्या है? कोई उपलब्धि मिले, खुद को कोई बात प्राप्त हो यह ही तो सब कार्यों का प्रयोजन है । जैसे कहते हैं कि सब रात पीसा पारे से उठाया । किसी महिला ने सारी रात चक्की पीसी । जब सवेरा हुआ और उस आटे को समेटा तो एक छोटीसी तस्तरी भर निकला । उसे कहते हैं पारा जो डेग्ची के ऊपर तस्तरी रखी जाये । तो जो धर्मसाधना के लिए स्तवन में लगे, समारोह में लगे, सारे काम किये, स्वागत किया, सब कुछ किया और फल क्या मिला अंत में कि खुद में कुछ उपलब्धि न हुई, ज्यों के त्यों रहे आये । यद्यपि इसमें भी लाभ है, कुछ मंद कषायें तो होती है, कुछ साधु-संतों पर भक्ति तो जगती है, पर उसका जो मौलिक लाभ है वह भी तो लेना चाहिए । किसलिए कर रहे? मौलिक बात बने बिना उस सबका फल बहुत थोड़ा रह जाता है । तो यह वस्तु के स्वरूप की बात कही जा रही है । प्रभु ! आपने ही तो

यह स्वरूप बतलाया, जो सबके उपकार के लिए हो रहा । विशेष वाच्य का विशेषण ही वचन बनता है, क्योंकि उन वचनों के द्वारा विशेष्य का ही ग्रहण होता । वही नियत बनता । जैसे किसी भी पदार्थ का नाम तो लो बढ़िया, जो विशेषण न हो और पदार्थ का नाम आ जाये? किसी चीज का नाम लेकर तो बताओ । आप कहेंगे चौकी । अरे ! नाम कहाँ लिया, तुमने तो इसमें उस वस्तु की तारीफ कर दी । जिसमें चार कोने हों सो चौकी । जैसे कोई स्त्री पति का नाम नहीं लेती, बहुतसी हैं ऐसी स्त्रियां । अब कोई जरूरत थी—मान लो कपूर चाहिये था और पति का नाम कपूर था तो उसे कपूर नाम लेने में शर्म लगने से वह कोई इस ढंग से बात कहती है कि जिससे दुकानदार उसकी बात समझ जाता है और कपूर दे देता है । तो जैसे वह विशेषण बन गया उस विशेष व्यक्ति की पहिचान के लिए, ऐसे ही जितने भी शब्द हैं दुनिया में वे सब विशेषण हैं और उनसे पदार्थ का बोध होता है । तो उन वचनों के द्वारा विशेष्य विनियमित होता है । विनियमित होता है । विशेष्य और विशेषण उन दोनों का जो व्यवहार बनता है वह सब विवक्षावश बनता है । यह तत्त्व हे प्रभो ! आपके सिद्धान्त में कहा । विशेषण के दो काम होते हैं—एक चीज का ख्याल कराना और बाकी का ख्याल हो जाना । जैसे कहा—नीली धोती ले आवो, तो अब उसके दिमाग में दो बातें आयीं, यह लावो और अन्य न लावो । विशेषण का प्रयोजन होता है—विधि और निषेध । तो इसी तरह जितने भी वचन हैं वे विशेषण हैं और उनका प्रयोग भला है । एक की विधि करना, बाकी का निषेध करना । तो प्रभु ! स्याद्वाद तो जिसे कहते हैं वह रग-रग में बसा है, बात-बात में बसा है । कुछ भी बात बोलें—विधि-निषेध वहाँ है या नहीं । वही स्याद्वाद, वही अनेकान्त । तो ऐसा तत्त्व हे प्रभो ! आपके सिद्धांत में कहा, जिससे एक व्यवहार बनता और वस्तु के स्वरूप की परख बनती ।

छन्द ६५

नयास्तव स्यात्पदसत्यला ⇂ ij छता रसोपविद्धा इव लोहधातवः ।

भवन्त्यभिप्रेतगुणा यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ।।६५।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! **(यतः)** चूंकि **(स्यात्पदसत्यलाञ्छिताः)** स्यात्पदरूपी सत्य से चिह्नित **(तव)** आपके **(नयाः)** नय **(रसोपविद्धाः)** रस से अनुलिप्त **(लोहधातवः इव)** लोहधातुओं के समान **(अभिप्रेत गुणाः)** इष्ट गुणों से युक्त पक्ष में सुवर्ण आदि इष्ट पदार्थ के गुणों से युक्त **(भवन्ति)** होते हैं **(ततः)** इसलिये **(हितैषिणः)** हित के इच्छुक **(आर्याः)** गणधर आदि उत्तम पुरुष **(भवन्तं)** आपके प्रति **(प्रणताः)** नम्रीभूत हैं ।

विवक्षा आशय सहित वचनों की अभीष्टद्योतकता दर्शाने वाले प्रभु का संस्तवन—हे प्रभु ! तुम्हारे सिद्धान्त में नय 'स्यात्' पद करके चिह्नित हैं । स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य । स्यात् का अर्थ शायद नहीं है; शायद नित्य; शायद अनित्य; ऐसा नहीं है, वह तो मिथ्या है, संशयवाद है । स्यात् का मजबूत अर्थ 'ही' है, इस दृष्टि से नित्य के साथ 'ही' लगा करता है और शायद के साथ 'भी' लगता है । अनेकान्त की मुद्रा 'भी' नहीं, किन्तु 'ही' है । प्रसिद्धि में तो यों कहते लोग कि नित्य भी है, अनित्य भी है; अनेकान्त बन गया, पर बुद्धिमान जन, आचार्य जन इस बात को महत्त्व नहीं देते । यह 'भी' तो निर्बल चीज है । सबल है 'ही,' 'एव' । द्रव्यदृष्टि से नित्य ही

है, रंच भी संदेह नहीं । पर्यायदृष्टि से अनित्य ही है, कोई संदेह नहीं । अब 'भी', 'ही' का प्रभाव देखो—जैसे तीन लोग बैठे हैं—पिता, पुत्र और पुत्र का पुत्र । मानो राम **(पिता)**, मोहन **(राम का पुत्र)** और सोहन **(मोहन का पुत्र)** ये तीन बैठे हैं । इनमें से मोहन की बात ले लो । मोहन राम का पुत्र ही है, ऐसा कहा जायेगा तो ठीक है । अब इसमें कोई कहने लगे कि मोहन राम का पुत्र भी है, तो इसमें तो लट्ठमलट्ठ **(मारपिटैया)** हो जायेगी, क्योंकि उसका तो अर्थ यह हो गया कि मोहन राम का और कुछ भी **(दादा, बाबा आदि)** हो सकता है । तो वहा यही कहना होगा कि मोहन राम का पुत्र ही है । अब दूसरी बात ले लो । मोहन सोहन का पिता ही है, ऐसा कहा जाये तो ठीक है । अब कोई कहे कि मोहन सोहन का पिता भी है तो वहाँ भी लड़ाई हो जायेगी, क्योंकि उसका तो अर्थ हो गया कि मोहन सोहन का बाबा, बेटा वगैरा भी हो सकता । तो 'भी' में बल नहीं होता, बल होता है 'ही' में । तब ही तो प्राचीन आचार्यों के वचनों में 'भी' का प्रयोग कहीं न मिलेगा, बड़े-बड़े ग्रन्थों में देख लो 'ही' मिलेगा स्याद्वाद में । तो प्रभो ! नय स्यात् पद करके चिह्नित है । सो ही सत्य है । जैसे रसो पवित्र होकर लोह अभीष्ट गुणयुक्त हो जाता है । हे प्रभु ! ये सब इष्ट बातें तभी बनती हैं जब स्यात् पद चिह्नित हों और उनका प्रयोग हो । यह सब आपने बताया इसलिए हितैषी पुरुष, आर्य पुरुष आपका ही सहारा लेते हैं, आपके ही चरणार्विन्द में रहते हैं, नमस्कार करते हैं, भक्ति करते हैं । इस प्रकार विमलनाथ की स्तुति पूरी हुई ।

(१४) श्री अनन्तजिनस्तवनम्

(वंशस्थछन्द)

छन्द ६६

अनन्तदोषाशयविग्रहो ग्रहो विषङ्गवान्मोहमयश्चिरं हृदि ।

यतो जितस्तत्त्वरुचौ प्रसीदता त्वया ततोऽभूर्भगवाननन्तजित् ।।६६।।

अन्वयार्थ—(अनन्तदोषाशयविग्रहः) जिसका शरीर अनन्त रागादि दोषों का आधार है तथा जे **(चिरं)** चिरकाल से **(हृदि)** हृदय में **(विषङ्गवान्)** सलंग्न था अथवा ममता भाव से सहित था । ऐसा **(मोहमयः)** मोहरूप **(ग्रहः)** पिशाच **(तत्वरूचौ)** तत्त्व-श्रद्धा से **(प्रसीदता)** प्रसन्न रहने वाले **(त्वया)** आपके द्वारा **(यतः)** क्योंकि **(जितः)** जीत लिया गया था **(ततः)** इसलिये आप **(भगवान्)** भगवान् **(अनन्तजित्)** अनन्तजित् इस सार्थक नाम को धारण करने वाले **(अभूः)** हुए हैं ।

तत्त्वरुचि को मोहग्रहविजय का उपाय प्रकट करने वाले प्रभु का स्तवन—अनंतनाथ भगवान के स्तवन में

कहते हैं कि अनन्तनाथ प्रभु के अंतस्तत्त्व की रुचि के कारण स्वयं इतने स्वच्छ निर्मल हुए कि हे प्रभु ! तुमने मोहमयी महान ग्रह को जीत लिया । कैसा है यह मोहरूप महान ग्रहपिशाच कि अनन्त दोष का अभिप्राय यही जिसका शरीर है, यह मोह की मूर्ति का नक्शा है । मोह का शरीर क्या है? अनन्त दोष का अभिप्राय **(आधार)**, यही मोह का शरीर है । ऐसा यह महान् भयकारी मोहरूपी ग्रह जो चिरकाल तक हृदय में बैठा रहा, बैठा ही रहा सबके, प्रभु के भी जब तक अज्ञान था, ज्ञानी नहीं हुए; ऐसे उस मोह ग्रह को उन्होंने जीता, इसी कारण आप अनंतजिन कहलाते हैं । आपका नाम अनंतनाथ या अनंतजित् है, क्योंकि आपने अनंत दोष के आशय **(आधार)** का ही है शरीर जिसका ऐसे मोह को पछाड़ा, तो अनंत को पछाड़ा, अनन्त दोषों को हटाया, इसलिए आप अपराजित कहलाते हैं । इस स्तवन में कई बातों पर प्रकाश दिया है । एक तो मोह की मूर्ति बताया । मोह क्या चीज है? उसका आधार क्या? शरीर क्या? तो उसकी मुद्रा है यह कि जिसका शरीर अनन्त दोष के अभिप्रायरूप है बस यह ही मोह है । अनन्त दोष जहाँ भरे पड़े हैं, उनका संस्कार जहाँ भरा पड़ा है वही मोह है । और यह मोह कब से सता रहा? चिरकाल से । कोई उसकी आदि नहीं । सो उसको आपने जीता, कैसे? निर्मल होकर जीता, प्रसन्न होकर जीता । जो पहले से ही डर जाये, काँप जाये, कायर हो जाये, अधीर हो जाये वह कैसे जीतेगा ? आप निर्भय हैं, निःशङ्क हैं, सही ज्ञानी हैं, इसी से आपके प्रसन्नता है । इस प्रसन्नता का मूल आधार क्या है ? जो सहज तत्त्व है, सहज स्वरूप है उसमें रुचि हुई, प्रीति हुई । यह ही मैं हूँ, ऐसा इसको अनुभव हुआ । ऐसे हे प्रभु ! तुमने इस अनन्त दोषी मोह को जीता, स्तवन किया और इससे अपने को शिक्षा मिली कि ऐसा ही हम करें तो ठिकाना पड़ेगा ।

छन्द ६७

कषायनाम्नां द्विषतां प्रमाथिनामशेषयन्नाम भवानशेषवित् ।

विशोषणं मन्मथदुर्भदामयं समाधिभैषज्य गुणैर्व्यलीनयत् ।।६७।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! **(भवान्)** आप **(प्रमाथिनाम्)** दु:ख देने वाले **(कषायनाम्नां द्विषताम्)** कषाय नामक शत्रुओं के **(नाम)** नाम को हृदय में **(अशेषयन्)** समाप्त करते हुए **(अशेषवित्)** सर्वज्ञ हुए हैं तथा आपने **(समाधिभैषज्यगुणै:)** ध्यानरूप औषधि के गुणों के द्वारा **(विशोषणं)** संतापकारक **(मन्मथदुर्भदामयं)** कामदेव के दुष्ट दर्परूपी रोग को **(व्यनीलयत्)** विलीन किया है—नष्ट किया है ।

समाधिभेसल्ययल से कषायबैरियों का विलय करने वाले प्रभु का संस्तवन—हे अनंतनाथ ! आपने क्या किया? कषाय नामक बैरियों को जो इस जीव को सता रहे हैं, किस तरह सता रहे? मथकर सता रहे, उनका सफाया किया, उनका कुछ निशान नहीं रहने दिया, क्योंकि आप अशेषवित् हैं । कषायों को नष्ट करने से आप सर्वज्ञ हुए हैं, और काम का जो दुर्मद है, आमय—रोग है खोटा, सो समाधिरूपी औषधि के द्वारा उसको भी विलीन किया । कैसे हैं वे ? विशोषण, सुखा देने वाला । जिसके यह मन्मथ का दुर्मद रोग लग जाये उसको ये सुखा देते हैं । मन्मथ मायने काम-विकार । तो प्रभु ! आपने उस प्रमार्थ दु:खद कषाय को अशेष किया, कषाय प्रमायी है याने जीव को मथ-मथकर बरबाद करने वाली है । अब बतलावो, जीव तो भगवान के समान एक शुद्ध

चैतन्यस्वरूप है याने अपने आप अपने ही सत्त्व से सहज चैतन्यस्वरूप है । उसको क्या पड़ी, क्या कष्ट, क्या वेदना ? स्वरूप से देखो तो मेरे लिए कुछ नहीं । पर ऐसा कोई माने उसके लिए कुछ नहीं, जो ऐसा न मान सके उसके लिए सारे संकट हैं । कुछ ऐसा भी समझ में आ सकता इस मोह का उपद्रव कि खुद पर तो उपद्रव छाया है वह तो जल्दी समझ में नहीं आता, अगर दूसरा गल्ती करे, दूसरा मोह करे तो कुछ जल्दी समझ में आता कि कुछ लेन नहीं देन नहीं, किसका कौन? और इतना मोह में बरबाद हो रहा यह । तो जो बात हम दूसरे के विषय में जल्दी सोच सकते हैं वैसी ही बात अपने बारे में जो सोच सके बस वही तो ज्ञानबल है । तो स्वरूपत: हम आप सब कृतार्थ हैं, एक भी संकट नहीं, कुछ भी आपत्ति नहीं । और वहीं स्वरूप की दृष्टि हटी और बाह्य में दृष्टि लगी, संस्कार तो बाट देखता ही रहता है । जैसे ही बाह्य में ध्यान गया; मकान, पुत्र, वैभव, देह आदिक बाह्य चीजों में दृष्टि लगी, बस बरबादी शुरू हो गयी और जब अपने स्वरूप को ही निरख रहा है तब तक शान्ति रहती है । जैसे आज कोई पुरुष घर में उत्पन्न हुआ और उसके घर में जैसे दो-चार जीव हैं, मानो वह इस घर में न उत्पन्न होता, दुनिया तो बहुत बड़ी है, कहीं अन्यत्र उत्पन्न होता तो इसके लिए फिर यहाँ का जिस परिवार में रह रहे उसका ख्याल भी आता क्या? तो सारहीन बात तो है ही, लेकिन उस सारहीन बात में न फँसे, आकुलित न हो और अपने विशुद्ध आत्मस्वरूप की दृष्टि रहे; यह बात यथार्थ तत्त्वज्ञान का दृढ़तम अभ्यास हो तो बनती है, नहीं तो अभी तक मरते चले आये, यही तो किसी अनिष्ट को देखकर गाली दे दी, कहा की मरा आ गया, और यह गाली अपने पर नहीं घटती क्या? कहां का मरा आ गया? मरता ही तो गया । मरण किया, जन्म किया न कहां का मरा मरता-मरता आया । तो अपने आपके स्वरूप का दृढ़तम अभ्यास हो तो मोह मिटे ।

शिवपथगमन के लिये मोह व काम का विलय करने की प्रथम आवश्यकता—मोह में मिलता कुछ नहीं, कभी नहीं मिलता, जीवन व्यतीत हो रहा, मरण के निकट आ रहे, प्रथम तो हट्टेकट्टे का भी विश्वास नहीं, और जहा उम्र ज्यादा होती है वहाँ तो मरण निकट है । तो मरण के तो निकट हैं और मोह की सूझ लगी है, तो ऐसा तो अनादि से ही करता चला आया है जीव । कोई बुद्धिमानी की बात इस भव में न कर सका । ये कषाय-बैरी इस तरह से इस जीव का प्रमथन (दु:ख) करने वाली है । उसका संघर्ष और उसका समाप्त करना ही प्रभु ! आपका काम है । और फिर द्वितीय पंक्ति में कह रहे हैं कि कामदेव के दुर्मद आमय **(रोग)** को भी समाधिबल से विलीन कर दिया, ऐसा है विशेषण । काम कषाय से कुछ अलग चीज नहीं है । कषाय में ही काम गर्भित है, पर लोगों पर इतना हावी है यह काम कि आचार्यों को चार कषायों का नाम लेकर भी काम को अलग से कहना पड़ा । काम, क्रोध, मान, माया लोभ । काम कुछ अलग है क्या कषाय से? लेकिन इस काम का इतना वजन है, इतना तौल है कि चारों कषायें भी इकट्ठी कर दें फिर भी काम का वजन ज्यादा रहता है, इसीलिए इस काम को कषाय से अलग कहने की पद्धति चली आयी । इस काम को हे प्रभो ! आपने समाधिरूपी अग्नि के द्वारा विलीन कर दिया । प्रभु का हम जो गुणानुवाद करते हैं उससे हम यह शिक्षा लेते जायें कि जो प्रभु ! आपने किया सो हम कर सकते और जो आपने किया वही हम करें तो हम संकटों से पार हो सकते हैं, अन्यथा नहीं ।

छन्द ६८

परिश्रमाम्बुर्भयवीचिमालिनी त्वया स्वतृष्णासरिदार्य ! शोषिता ।

असंगघर्मार्कगभस्तितेजसा परं ततो निर्वृतिधाम तावकम् ।।६८।।

अन्वयार्थ—(परिश्रमाम्बु:) जिसमें परिश्रमरूप जल भरा है, और **(भयवीचिमालिनी)** भयरूप तरङ्गों की मालाए उठ रही है, ऐसी **(स्वतृष्णासरित्)** अपनी भोगाकांक्षारूप नदी **(हे आर्य)** हे पूज्य **(त्वया)** आपके द्वारा **(असङ्घघर्मार्कगभस्तितेजसा)** निष्परिग्रहतारूप ग्रीष्मकालीन सूर्य की किरणों के तेज से **(शोषिता)** सुखा दी गई है **(तत:)** इसलिये **(परम्)** उसके आगे विद्यमान **(निर्वृतिधाम)** निर्वाणस्थान **(तावकम्)** आपका ही है अथवा आपका अनन्तज्ञानादितेज अत्यन्त उत्कृष्ट है ।

असंगता द्वारा तृष्णानदी का शोषण कर देने वाले परम आत्मा का स्तवन—हे प्रभो ! तुमने तृष्णारूपी नदी का शोषण कर दिया याने तृष्णानदी में जल की बूंद न रही, तृष्णा का सफाया कर दिया । कैसी है वह तृष्णानदी कि उसमें परिश्रम का तो जल भरा है, जैसे नदी में तो जल भरा होता और यहा तृष्णारूपी नदी में काहे का जल भरा है? परिश्रम का अर्थात् यह तृष्णा-परिश्रम से बनी हुई है । तृष्णा में परिश्रम करना ही होता, परिश्रम से ही तो तृष्णा बनी और परिश्रम ही तृष्णा का फल है, विकल्प करना परिश्रम ही तो है । दिल में ज्यादा विचार लाना यह परिश्रम ही तो है, और शरीर का श्रम करे वह भी श्रम है । तो विकल्प करना, स्वरूप से च्युत होना—यह बहुत बड़ी कवायद, व्यायाम, कसरत है, नहीं तो आत्मा आनन्दमय है, आनन्द में रहे । अपना स्वरूप जैसा है वैसा ही अपने को रखे तो कौनसा कष्ट है? कौनसा उपद्रव है? कौन लाठी मार रहा कि तुम इसे मानो कि यह मेरा है? और लाठी मारकर कोई मान नहीं सकता कि यह मेरा है । खुद अज्ञानी बनकर ममता करते हैं और दु:खी होते हैं । जब अन्त समय आ जाता है तो मर जाते हैं, उपलब्धि कुछ नहीं हो पाती । यह अध्यात्मदर्शन सारे परिश्रम दूर करने का साधन है । कोई पुरुष दिन में १० घंटे परिश्रम करके और ढीला शरीर करके पड़ जाता हैं ऐसा करना ही पड़ता है तब उसकी थकान दूर होती है । तो यह आत्मा तो अनादि से विकल्प कर-करके खूब थक गया है, यों ही थक गया है और थके हुए की ये दशायें हैं; कीड़ा बना, मकोड़ा बना, अनेक बार बना तो इसकी यह थकान मिटे कैसे? इस मनुष्य के दिनभर का विकल्प करके, परिश्रम करके जो थकान आयी है उसका मिटाना, यही है अध्यात्मदर्शन । जहाँ विकल्प से रहित निज अंतस्तत्त्व की दृष्टि बनी कि सारी थकान दूर । तो यह थकान, यह विकल्प इससे तृष्णानदी का दूर हो गया, सो हे प्रभु ! आपने इस तृष्णानदी का शोषण किया । नदी में लहरें उठती हैं । तो तृष्णा की नदी में काहे की लहरें हैं? भय की । जहाँ तृष्णा है वहाँ भय है और ये भय की लहरें उठ-उठकर इस नदी को तरेड़-मरेड़ देती हैं । तो जहाँ परिश्रम का जल भरा और भय की लहरें जहाँ चल रहीं, ऐसा अपने आपमें उत्पन्न हुई तृष्णारूपी नदी, हे आर्य ! तुमने शोषित कर दिया । काहे से शोषित किया? कुछ उपाय तो बताओ । तो कहते हैं कि असंग सूर्य की तीक्ष्ण किरणों के द्वारा । गर्मी के दिनों में नदी कैसी ही सूख जाये, जहाँ यह भी न पता पड़े कि यहाँ नदी रही होगी, तो आपने उस परिग्रहरहित सूर्य की किरणों के तेज के द्वारा उस तृष्णानदी को शोषित किया, इसी कारण

आपका अब निर्वृत्ति-धाम हुआ, जो उत्कृष्ट है वह निर्वाण स्थान हुआ ।

तृष्णानदी के शोषण का उपाय करने वाले के प्रति तृष्णा पारेच्छु की रुचि—यह तृष्णानदी सूख सकती है तो निसंगता से ही सूख सकती है । निर्लोभता, निसंगता, सर्वविविक्तता, केवल चिन्मात्र अपने आपको अनुभव करना—इस भीतरी भावना से ही यह तृष्णानदी सूख सकती है । जो किनारे पहुंच जाता है, नदी के उस पार है, इस पार रहने वाला उस पार वाले से बड़ी आशा रखता है, उस पार पहुंचे हुए से बडी भक्ति रखता है । यह पहुंच गया उस पार । कुछ उसे सफल देखता है । लौकिक पुरुषों की भी ऐसी आदत है सो सुना रहे । जो नदी के उस पार पहुंच गया पैदल चल-चलकर, उसी तरह पहुंचने का जहाँ साधन है, तो उस पार पहुंचे हुए को यह शाबाशी देता है, मन में उसके प्रति अच्छा विचार रहता है । पार हो गए, चले गए, संकट से हट गए और फिर उनकी पूछ करते हैं कि कही से पार हुए, चले गए, किस-किस गली से गए? फिर उनका अनुकरण करते हैं । लो, ऐसे ही संसाररूपी महानदी से पार हो गए प्रभु । सो जो उस पार पहुंचना चाहता है, संसार के पार लगना चाहता है सो उस प्रभु के प्रति बड़ी भावना रहती है । किस गैल से गए, कैसे गए? सब बखान करते हैं । किसी भी जगह का, पद का कोई नेता हो, जब तक वह अपने को जरूरत नहीं अनुभव करता है कि हमें ऐसा ही होता है तब तक उसके लिए वह टूटा हुआ ऊंचा है । हैं, जान लिया, अच्छे हैं, ऊँचे हैं, और जब उस पर चलने की बात आयी, प्रयोग में जब अनुभव होता उस पद पर पहुंचने वाले का कैसा साहस, कैसी चर्या, कैसा भाव, कैसे गए? तो अनुभव होता है । जैसे एक कहावत है कि वेश्या क्या जाने गर्भिणी की प्रसव वेदना को । सुनते हैं सब कि बड़ी वेदना होती है । लोग भी कहते हैं कि उसका पेट चीरकर **(आपरेशन करके)** बच्चा निकला, कुछ उसके दर्द के प्रति चिक-चिक भी मुख से कर लेंगे, मगर वह बात न आ पायेगी, उस वेदना का वैसा अनुभव न हो पायेगा जैसा कि उस स्त्री को होता है । अभी किसी के पैर में बेवाई फटी हो काफी बड़ीसी, तो भले ही उसकी कुछ बात कर लेवें, पर उसकी वेदना का सही अनुभव नहीं हो सकता । खुद के पैर में जब बेवाई फटे तब सही पता पड़े दूसरे की फटी बेवाई का । तो जिसको संसार के उस पार पहुंचने का भाव है वह सब अनुभव करता हुआ चलता है । प्रभु ने क्या किया, कैसे गए ? फिर तो उसके चरित्र की बात सुनने की भी दिशा बदल जाती है । और इस तरह सुनना चाहते हैं, फिर प्रभु के चरित्र को कि किस तरह से हमें भी चलना है, यह बात चित्त में भरी रहनी है । क्या-क्या किया प्रभु ने? अपना कोई मित्र हो, पार्टी का हो, कहीं कुछ काम आ गया हो, उसकी कोई खबर लाया हो तो कैसी रुचि से पूछते हैं—कहाँ पहुंच गया, क्या हुआ? तो अपने ही तो हैं प्रभु । वही मार्ग तो चलना है, वह पहले चले गए, हम जरा देर से चेते, देर में जायेंगे, पर काम तो मेरा प्रभु होने का है, दूसरा तो प्रोग्राम ही नहीं है, है ही नहीं, होना ही न चाहिए ।

निज को निज, पर को पर जानकर, पर की चिन्ता त्यागकर निजाभिमुख होने में ही लाभ का संदर्शन—भैया ! प्रभुता की ओर दृष्टि देना, झंझटों की चिंता नहीं करना । संसार में झंझट अनेक हैं, सैकड़ों झंझट लगे हैं । मानो १०० झंझट लगे थे, चलो एक झंझट और लग जाये, क्या फर्क पड़ता है । ऐसा चित्त बने । झंझट कम होने की बात क्यों सोचते हो? जो झंझट कम होने की बात सोचता है वह झंझट से डर रहा है तो वह झंझट से पार ही नहीं होता । हम नीति न्याय पर हैं, और दो झंझट आ जायें, क्या है? परपदार्थ के परिणमन

हैं, उसमें इसने विकल्प लगा लिया । सो जिस ही समय हम अपना उपयोग वहाँ से खींचेंगे तो सैकड़ों झंझट हैं तो सैकड़ों भी टूट जायेंगे । सब झंझटों को मिटा डालने की बूटी तो अपने पास है । कितने ही झंझट आयें, पर कायर भी बने रहें और ऐसी बात भी बोलें तो असर नहीं होता भीतर । पक्का प्रोग्राम हो कि हमें तो अपने पथ पर जाना है, उसके लिए दुनिया— का कोई झंझट नहीं है । तो यह तृष्णानदी हे प्रभु ! आपने शोषित की और वह भी निष्परिग्रहतारूपी सूर्य के किरण-तेज से । इसीलिए आपका धाम बड़ा उत्कृष्ट है, जहाँ आप रहते हैं ।

छन्द ६९

सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते द्विषंस्त्वयि प्रत्ययवत्प्रलीयते ।

भवानुदासीनतमस्तयोरपि प्रभो परं चित्रमिदं तवेहितम् ।।६९।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! **(त्वयि सुहृद्)** आपमें उत्तम हृदय को रखने वाला—भक्त पुरुष **(श्री सुभगत्वं)** लक्ष्मी के वल्लभपने को **(अश्नुते)** प्राप्त होता है और **(त्वयि द्विषन्)** आपमें द्वेष रखने वाला—अभक्त पुरुष **(प्रत्ययवत्)** व्याकरण के प्रसिद्ध क्विप् आदि प्रत्ययों अथवा क्षायोपशमिक ज्ञान के समान **(प्रलीयते)** नष्ट हो जाता है—चतुर्गति के दु:खों का अनुभव करता है परन्तु **(भवान्)** आप **(तयोरपि)** उन दोनों—भक्त और अभक्त पुरुषों के विषय में **(उदासीनतम:)** अत्यन्त उदासीन हैं—रागद्वेष से रहित हैं । **(प्रभो)** हे स्वामिन् ! **(तव)** आपकी **(इदम् ईहितं)** यह चेष्टा **(परं चित्रम्)** अत्यन्त आश्चर्यकारी है ।

भक्त और विरोधी में प्रभु के उदासीनपना होने पर और प्रभुभक्त की स्वयं सुगमता व प्रभुविरोधी की प्रलीनता होने के आश्चर्य के वातावरण में प्रभु का स्तवन—हे नाथ ! जो तुममें मित्र बनता है अर्थात् जो आपसे प्रेम करता है, भक्ति करता है वह तो श्रीसुगमता को प्राप्त होता है; लक्ष्मी, धन, वैभव, मनोज्ञता इन सब बातों को भोगता है । जो आप में राग करता, प्रीति करता, प्रशंसा करता, सेवा करता आपकी और मित्र-सा रहता वह तो हो जाता है सुभग, लक्ष्मीवान और जो आपमें द्वेष करता है वह प्रत्यय की तरह मिट जाता है । शब्द और धातुवों में प्रत्यय लगाया जाता है तब वह प्रयोग के योग्य होता है । तो कुछ प्रत्यय ऐसे होते हैं कि जिनका पूरा विनाश हो जाता है, पूरा मिटा देता है तो फिर प्रत्यय ही क्यों लगाते? बस लगे और मिटे, उसी से ही शब्द बन गए । कई शब्द हैं ऐसे; जैसे कृत, अंतकृत, कृत धातु है, उससे छ या और कोई प्रत्यय जोड़ दिया, बाद में मिटा दिया तो उससे वे अप शब्द कहलाने लगे, नहीं तो पहले धातु कहलाते थे । कुछ प्रत्यय तो लगे रहते हैं । जैसे कुम्भकार, कार कृ धातु से क प्रत्यय लगा, कार बन गया, कृप में य का लोप हुआ, कृ भर रहने दिया तो कार बन गया । कुछ प्रत्यय का थोड़ा रख लेते और छोड़ देते और कुछ प्रत्यय लगाते और पूरा मिटा देते, उस प्रत्यय के कारण पूरे शब्द आ जाते हैं । तो जैसे प्रत्यय पूरा मिट जाता है ऐसे ही जो आपकी भक्ति में द्वेष करता है, आपके खिलाफ करता है वह प्रत्यय की भांति मिट जाता है, लेकिन आश्चर्य तो यह है कि आप दोनों में उदासीन हैं । तारीफ आपकी यह है कि न आपको मित्र में राग जगता है और न उस द्वेषी से आपको बैरभाव जगता है । सो हे प्रभु ! तुम्हारी चेष्टा बड़ी अद्‌भुत है, बड़ी आश्चर्यकारी है कि ऐसी-ऐसी तो बातें हो रहीं,

आपको सारी सुविधायें हैं, चलो आप अपने भक्तों से राग कर लें, मौज ले लेवें, बहुत से लोग तो आनन्द लूटते हैं या जो आपको निन्दा करता है उसको थोड़ी-सी फूंक मार दें तो वह तो भस्म हो जायेगा । आप तो बड़ी ऋद्धि-सम्पन्न हो, मगर आश्चर्य है कि आप दोनों में उदासीन हो । न तो अनुरागी से आपको राग है और न द्वेषी से आपको विरोध है । यह ही आपकी गम्भीरता है । प्रभु के ऐसे गुण स्मरण कर अपने आपमें उसी तरह का ध्यान रखना चाहिए ।

छन्द ७०

त्वमीदृशस्तादृश इत्ययं मम प्रलापलेशोऽल्पमतेर्महामुने ।

अशेषमाहात्म्यमनीरयन्नपि शिवाय संस्पर्श इवामृताम्बुधेः ।।७०।।

अन्वयार्थ—(महामुने !) हे समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले मुनिनाथ ! **(त्वम्)** आप **(ईदृशः)** ऐसे हैं **(तादृशः)** वैसे हैं **(इति)** इस प्रकार का **(अयं)** यह **(मम अल्पमतेः)** मुझ अल्प वृद्धि का **(प्रलापलेशः)** थोड़ा-सा प्रलाप **(अशेषमाहात्म्यं)** आपकी समस्त महिमा को **(अनरियन्नपि)** न कहता हुआ भी **(अमृताम्बुधः)** सुधासागर के **(संस्पर्श इव)** समीचीन स्पर्श के समान **(शिवाय)** मोक्ष के लिये है—मोक्ष सुख की प्राप्ति का कारण है ।

प्रभुभक्ति के रुचिया के कल्याण की सिद्धि—हे महामुने ! जो भी मैं कुछ प्रलाप कर रहा हूँ, बक रहा हूँ कि तुम ऐसे हो, तुम वैसे हो, यह सब प्रलाप है । सो प्रलाप भी तो पूरा नहीं कर पाते, वह भी लवलेश है, लेकिन फायदा तो हो रहा इसका । हम आपके सारे माहात्म्य का वर्णन भी नहीं कर पा रहे लेकिन यह सब हमारे कल्याण के लिए हो रहा । जैसे अमृतसमुद्र का थोड़ा भी स्पर्श हो जाये तो वह कल्याण के लिए है । इससे यह सब भक्ति की ही तारीफ है । प्रभु को और स्मरण करता हुआ कुछ भी यदि वह यथार्थ बोल न सके तो भी उसका भला हो जाता है । इस तरह हे प्रभु ! तुम्हारा स्तवन यह सब मेरे कल्याण के लिए होवो ।

(१५) श्री धर्मजिनस्तवनम्

(रथोद्धताच्छन्द)

छन्द ७१

धर्मतीर्थमनघं प्रवर्तयन् धर्म इत्यनुमतः सतां भवान् ।

कर्मकक्षमदहत्तपोऽग्निभिः शर्म शाश्वतमवाप शङ्करः ।।७१।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! **(अनघं)** निर्दोष **(धर्मतीर्थं)** धर्मरूपी तीर्थ अथवा धर्म का प्रतिपादन करने वाले आगम की **(प्रवर्तयन्)** प्रवर्ताते हुए **(भवान्)** आप **(सतां)** गणधरदेवादि विद्वानों के द्वारा **(धर्मः)** धर्म इस सार्थक नाम से

युक्त **(अनुमतः)** माने गये हैं । आपने [तपोऽग्निभिः] तपरूपी अग्नियों के द्वारा [कर्मकक्षम्] कर्मरूपी वन को [अदहत्] जलाया तथा [शाश्वतं] अविनाशी [शर्म] सुख [अवाप] प्राप्त किया है इसलिये आप सत्पुरुषों के द्वारा [शङ्करः] शङ्कर इस नाम से युक्त [अनुमतः] माने गये हैं ।

कर्मकक्ष का दहन कर शाश्वत आनंदलाभ का तथ्य प्रयोग से प्रकट करने के कारण प्रभु को धर्मरूपता—हे धर्मनाथ प्रभो ! आप सज्जन पुरुषों के द्वारा बुद्धिमान जनों की दृष्टि में धर्म हैं, इस तरह से माने गए, क्योंकि आपने पापरहित धर्मतीर्थ को प्रवृत्ति की । धर्मनाथ नाम क्यों पड़ा क्योंकि धर्म की प्रवृत्ति की और तपरूपी गुणों के द्वारा कर्मों की कक्षाओं को याने सब प्रकार के इन कर्मों को जला डाला, इस कारण आपने शाश्वत् अविनाशी सुख प्राप्त किया, इसलिए आप शंकर हुए । शं मायने सुख, जो उसको उत्पन्न करे उसका नाम है शंकर । इस छंद में एक तो धर्मनाथ के नाम की निरुक्ति बतायी है । निर्दोष धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति की, धर्मतीर्थ तो वही है जो निर्दोष है, पापरहित है । जहाँ रंचमात्र भी पाप है वह धर्मतीर्थ नहीं कहला सकता । तो धर्मतीर्थ को प्रवृत्ति की, अतएव आप बुद्धिमानों की दृष्टि में धर्मनाथ इस प्रकार से माने गए । तीसरी बात यह कही जा रही है कि तपरूपी अग्नि के द्वारा कर्मकक्ष को जलाया । कर्मों की भी कक्षायें हैं । जो ज्ञानावरणादिक ८ प्रकार के कर्म हैं वे कक्षायें हैं, उनमें भी कठिन कक्षायें हैं घातिया कर्म की । तो आपने तपरूपी अग्नि के द्वारा कर्मकक्षाओं का दहन किया और शाश्वत सुख को प्राप्त किया, इसी कारण आप शंकर कहलाये ।

छन्द ७२

देवमानवनिकायसत्तमैरेजिषे परिवृतो वृतो बुधैः ।

तारकापरिवृतोऽतिपुष्कलो व्योमनीव शशलाञ्छनोऽमलः ।।७२।।

अन्वयार्थ—हे धर्मजिन ! **(देवमानवनिकायसत्तमैः)** देव समूह और मनुष्य समूह में अत्यन्त श्रेष्ठ भव्य जीवों के द्वारा **(परिवृतः)** चारों ओर से वेष्टित तथा **(बुधैः)** गणधरादि विद्वानों से **(वृतः)** घिरे हुए आप **(व्योमनि)** आकाश में **(तारकापरिवृतः)** ताराओं से परिवेष्टित **(अमलः)** घनपटलादि मल से रहित **(अतिपुष्पकलः)** संपूर्ण **(शशलाञ्छनः इव)** चन्द्रमा के समान **(रेजिषे)** सुशोभित हुए थे ।

प्रभु की सर्वाभ्यर्चितता—हे प्रभु ! आप उत्तम देव और मानवों के समूह के द्वारा घिरे रहे, शोभा प्राप्त कर रहे और जो बुद्धिमान जन हैं विद्वान् गणधर आदिक उनके द्वारा आप घिरे रहे, सो ऐसे शोभायमान हुए कि जैसे पूर्ण चन्द्रमा, निर्दोष चन्द्रमा आकाश के तारों द्वारा घिरा हुआ रहता है । भगवान के समवशरण में भी चारों ओर गोल सभायें रहती हैं, इसलिए देव और मानवों के समूह से आप घिरे हुए रहते हैं, और जो विद्वज्जन हैं, विद्या के रुचिया हैं उनके द्वारा आप सतत अपेक्षनीय रहे, इसलिए आप ऐसे शोभायमान रहे जैसे कि पुष्कर-चंद्रमा तारकाओं से घिरा हुआ रहता है । वह आकाश में घिरा रहता है । प्रभु भी प्रकाश में ही घिर रहे, क्योंकि समवशरण पृथ्वी पर नहीं बनता, क्योंकि उतनी जगह ही कहाँ पृथ्वी पर जहाँ समवशरण बनाया जा सके । समवशरण होता है १०, १२ कोश के विस्तार में और इतना बड़ा मैदान कहीं होता नहीं तो कुछ ऊंचे आकाश में बनता है । समवशरण की रचना बनती है तो चारों ओर सीढ़ियां रहती हैं । सीढ़ियां भी बड़ी सुखद, और भक्ति

के भाव से जाने वालों को पता ही नहीं पड़ता, एक ऐसा अतिशय है कि उन सीढ़ियों पर आराम से झट ऊपर चढ़ जाते हैं । तो चारों ओर सीढ़ियां रहती हैं नीचे से ऊपर तक और कुछ ऊपर ५ हजार धनुष ऊपर वहा समवशरण की रचना होती है, और उसमें अनेक श्रृङ्गार की रचनायें, ध्वजाओं को रचनायें, चैत्यालयों की रचनायें—ऐसा घेर-घारकर सबसे बीच में गंधकुटी होती है और उसके चारों ओर सभा होती है । गोल सभायें रखने का कारण वहाँ यह था कि सभी लोग चाहते हैं कि भगवान के मुख के दर्शन होते रहें । तो हर एक लोग सामने ही आते । कोई पीछे बैठना पसंद नहीं करता, किन्तु वही ऐसा अतिशय है कि चारों ओर मुख दिखता है । कुछ ऐसी ही समवशरण की रचना की विधियां हैं कि यह अतिशय प्रकट हो जाता है । तो चारों ओर सब सभा में बैठ गए और उपदेश सुनते हैं । तो इस तरह प्रभु; देव और मानव के समूह से घिरे हुए रहते हैं ।

छन्द ७३

प्रतिहार्यविभवैः परिष्कृतो देहतोऽपि विरतो भवानभूत् ।

मोक्षमार्गमशिषन्नरामरान् नापि शासनफलैषणातुरः ।।७३।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! **(भवान्)** आप **(प्रातिहार्यविभवैः)** सिंहसनादि प्रातिहार्यो तथा समवसरणादि विभूतियों से **(परिष्कृतः)** विभूषित होते हुए भी न केवल उनसे किन्तु **(देहतोऽपि)** शरीर से भी **(विरतः)** ममत्व रहित **(अभूत्)** थे तथा आपने **(नरामरान्)** मनुष्यों और देवों को **(मोक्षमार्गम्)** मोक्षमार्ग का **(अशिषत्)** उपदेश दिया था फिर भी आप **(शासनफलैषणातुरः)** उपदेश के फल की इच्छा से आतुर—व्यग्र **(नापि अभूत्)** नहीं हुए थे ।

प्रातिहार्यवैभव से परिष्कृत होने पर भी देह तक से भी विरक्तता होने का दर्शन—भगवान प्रातिहार्य के विभव से परिष्कृत रहे, श्रृङ्गार शोभित रहे, फिर भी आप इस देह से विरक्त थे । यहाँ दो बातें कही जा रही हैं कि यह तो बड़े सुन्दर प्रातिहारी वैभव से युक्त थे और वास्तव में आप देह से भी विरक्त थे । प्रातिहारी क्या चीज कहलाती? प्रतिहारों द्वारा जो रची जाये, सो प्रातिहारी । प्रतिहार इन्द्र । बड़े-बड़े बुद्धिमान कलाकार ऋद्धि-सम्पन्न देव-देवेन्द्रों द्वारा जो चीज रची जाती है वह प्रातिहारी है । जैसे प्रातिहारी बताया गया कि अशोक वृक्ष हो, उत्तम सिंहासन हो, तीन छत्र ऊपर ढुले, चमर ढुले, भामण्डल हो, दिव्यध्वनि खिरे, पुष्पवर्षा हो आदिक, इनका प्रबंध इन्द्रों द्वारा होता है तब सबसे उत्तम शोभा रहती है । तो इतनी शोभा के बीच हैं आप । बडे-बड़े मणि, रत्न, जवाहरात, बड़ी ऊँची कीमती चीजें उन सब सिंहासनों में लगे रहते हैं । तो ऐसे बडे वैभव से आप परिष्कृत हो, फिर भी आप शरीर से भी विरक्त हो । इसमें पुण्य और वैराग्य दो का महत्त्व बताया है । सर्वाधिक पुण्य तीर्थंकरों के प्रकट होता है, वैसे पुण्यवानों में चक्रवर्ती और इन्द्र महान माने गए हैं, पर ये भी जिसकी पूजा करें, जिसकी उपासनाभक्ति करें तो वह सारा पुण्य, सारा श्रृङ्गार, सारी शोभा सब प्रभु की समझ लीजिए । तो पुण्यसंपदा समवशरण में सबसे बड़ी सम्पदा है, पर उस सम्पदा के बीच रहते हुए भी हे प्रभु ! आप देह से भी विरक्त थे ।

मोक्षमार्ग का उत्तम उपदेश देकर भी शासनफल की एषणा से राहित्य का दर्शन—आपने मोक्षमार्ग का उपदेश दिया देवों को, मनुष्यों को, लेकिन आप उपदेश के फल की चाह से व्याकुल न थे, कोई इच्छा भी न थी

। कोई भी उपदेश देता है, लोक में छद्मस्थ जीव उपदेश किसी पीड़ावश ही देता है, राग की पीड़ा की मन में बात आयी, किसी न किसी अंश में वेदना तो हुई उस वेदना का प्रतिकार बनता है उपदेश । तो उपदेश करने वाला भी कोई न कोई अंश में आतुर रहता है, लेकिन आपने इतना सत्य दिव्य उपदेश दिया इस संसार में भटक रहे प्राणियों को कि वे ऐसा सत्यमार्ग पा जावें कि जिससे सदा के लिए समस्त संकटों से छूट जायें । आपने ऐसा उपदेश दिया फिर भी उपदेश के फल की चाह से आपमें रंच भी आतुरता न थी । भव्य जीव के भाग्य से और प्रभु के वचनयोग से दिव्यध्वनि खिरती है, उससे ही लोग अपनी-अपनी योग्यता माफिक उपदेश प्राप्त कर लेते हैं । तो इस द्वितीय पंक्ति में यह बतलाया कि आप में उपदेश करने तक की भी चाह न थी और उपदेश इतना ऊँचा होता था कि जिससे संसार के प्राणी समस्त संकटों से दूर होने का मार्ग पा सकें ।

छन्द ७४

कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयोनाऽभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया ।

नासमीक्ष्य भवत: प्रवृत्तयो धीर ! तावकमचिन्त्यमीहितम् ।।७४।।

अन्वयार्थ—हे नाथ ! **(तव)** आप **(मुने:)** प्रत्यक्षज्ञानी के **(कायवाक्यमनसां)** काय, वचन और मन की **(प्रवृत्तय:)** चेष्टाए **(चिकीर्षया)** करने की इच्छा से **(न अभवन्)** नहीं हुई तथा **(भवत:)** आपकी **(प्रवृतय:)** प्रवृत्तिया—चेष्टाए **(असमीक्ष्य)** वस्तुस्वरूप को ज्यों का त्यों जाने बिना **(न अभवन्)** नहीं हुई । **(हे धीर)** परीषहादिक तथा अन्यमतावलम्बियों के प्रश्न आदि से चित्त को क्षुभित न करने वाले हे धीर वीर धर्मजिनेन्द्र ! **(तावकं)** आपका **(इहितं)** चरित **(अचिन्त्यं)** अचिन्तनीय है, आश्चर्य करने वाला है ।

इच्छा के बिना योगों के प्रवर्तन का दर्शन—हे मुने ! आपके शरीर, वचन और मन की प्रवृत्तियां भी हुई, १३वें गुणस्थान में योग होता है और तीनों योग होते हैं—मनोयोग, वचनयोग और काययोग । तो काययोग तो एक अचेतन द्रव्य की ही चीज है । वचनयोग भी अचेतन है, द्रव्य की ही चीज है । मन दो प्रकार का होता है- द्रव्यमन और भावमन । तो आपके द्रव्यमनोयोग था, भावमनोयोग न था, जहाँ केवलज्ञान प्रकट हो जाता है वहीं मन से ऊँची स्थिति ही जाती है, मन से परे । वहाँ मन की प्रयोजकता नहीं रहती, फिर भी चूंकि द्रव्यमन है, मनोवर्गणायें आती रहती हैं इसलिए मनोयोग माना गया हैं । तो हे मुने ! तुम्हारी मन, वचन, काय की प्रवृत्तियां तो हुई, पर करने की इच्छा से न हुई थीं, चिकीर्षा आपमें रंच न थी । तो जैसे लोग कुछ चाह न रखें और परिश्रम करें, यह तो नहीं देखा जाता, लेकिन आपके चिकीर्षा रंच भी न थी और योग होते रहे । तो यह सब एक जो निष्पन्न योग होता है, केवलज्ञानी पुरुष होते हैं उनके विपाकवश मन, वचन, काय की चेष्टायें होती हैं, किन्तु उसमें उपयोग नहीं होता, क्योंकि परमात्मा हो गए । अब तो स्वच्छ ज्ञानोपयोग ही चलता है, इसी प्रकार हे प्रभो ! आपकी प्रवृत्तियाँ तो हुई, मगर बिना विचारे नहीं हुई । लो पहले तो बताया कि विचार के नहीं हुई और अब बतलाया बिना विचारे नहीं हुईं, तो इन दोनों ही बातों का सही सम्बंध है । बिना विचारे प्रवृत्ति होना हल्की बात कहलाती है । बिना ही विचारे प्रवृत्ति हो गई । कुबुद्धि से प्रवृत्ति होने को बिना विचारे प्रवृत्ति करना कहलाते हैं, सो यह भी न था और विचार करने की भी बात न थी, क्योंकि इच्छा हो तो विचार करने की बात

बने । तो हे प्रभु ! आपको प्रवृत्ति बिना विचारे नहीं हुई । तो कहते हैं कि हे प्रभु ! आपका काम, आपकी चेष्टा, आपकी परिणति अचिन्त्य है । बिना विचारे हुई सो भी ठीक नहीं, विचारकर हुई सो भी ठीक नहीं । तो फिर कैसे हुई? कोई तीसरी बात भी नहीं कही जा सकती । तो आपकी समस्त चेष्टायें अचिन्त्य हैं ।

छन्द ७५

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः ।

तेन नाथ ! परमासि देवता श्रेयसे जिनवृष ! प्रसीद नः ।।७५।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! **(यतः)** चूंकि आप **(मानुषीं प्रकृतिं)** मानव स्वभाव को अतिक्रान्त कर गये हैं **(च)** और **(देवतास्वपि)** इन्द्र, चन्द्र आदि देवों में भी **(देवता)** देवता हैं, पूज्य हैं **(तेन)** इसलिये **(हे नाथ)** हे स्वामिन्) ! आप **(परमा देवता असि)** उत्कृष्ट देवता हैं **(हे जिनवृष)** हे जिनेन्द्र ! **(नः)** हमारे **(श्रेय से)** कल्याण के लिये **(प्रसीद)** प्रसन्न हूजिये ।

प्रभु की देवाधिदेवता—हे प्रभु ! आप मानवीय प्रकृतियों से अतीत हो गए । मनुष्यों की जो प्रकृतियाँ होती हैं—विचारना, करना, रागद्वेष, चिन्तवन, भावना—इन सब प्रकृतियों से आप ऊँचे उठ गए । मनुष्य होकर भी आप मानवी प्रकृति से ऊंचे उठे हुए थे । और देवताओं में भी आप परम देवता थे मायने देवताओं में जो प्रकृति होती है उससे भी ऊंचे उठे आप देवता थे । मनुष्यों की ओर से उत्कृष्ट मनुष्य, देवताओं की ओर से उत्कष्ट देवता आप रहे । सो हे नाथ ! आप परम देवता हो, देवाधिदेव हो । देवों के भी अधि **(ऊंचे उठे हुए)** देव को देवाधिदेव कहते हैं । जिसके चरणों में सब देव आकर नमस्कार करते हैं ऐसे आप परम देवता हो, सो हे प्रभु ! हे जिनेन्द्र ! हे धर्ममूर्ति ! हमारे कल्याण के लिए हमसे प्रसन्न होवो । भक्ति में ऐसा गुणानुवाद चलता है । भगवान कहीं प्रसन्न नहीं होते, खेद-खिन्न भी नहीं होते । कैसी अलौकिक स्थिति है कि वहाँ ज्ञान ही ज्ञान चमक रहा है । शुद्धज्ञान, जाननहार; न किसी की ओर राग, न किसी की ओर द्वेष । ऐसे परम वीतराग हो फिर भी जो आपकी भक्ति करते हैं वे भक्ति के प्रसाद से अपना कल्याण पा ही लेते हैं । तो हे भगवान ! आप हम पर प्रसन्न होवो, हमारे कल्याण के लिए होवो । भक्ति हो, प्रसन्न हों, निर्मल हों, यही प्रभु का प्रसाद कहलाता है । तो प्रसन्नता तो भक्ति की और व्यवहार में कहा जाता है कि प्रभु ! आपकी प्रसन्नता से मेरा कल्याण हो । जैसे करतूत तो हुई भक्त की, पर भक्ति में कहा जायेगा कि आपकी ही करतूत है, आपका ही कर्तव्य है, आपका ही आशीर्वाद है । तो हे प्रभु ! आप प्रसन्न होवो और मेरा कल्याण होवे ।

इस प्रकार धर्मनाथ प्रभु की स्तुति समाप्त हुई ।

(१६) श्री शान्तिजिनस्तवनम्

(उपजातिछन्द)

छन्द ७६

विधाय रक्षां परित: प्रजानां राजा चिरं योऽप्रतिमप्रताप: ।
व्यधात्पुरस्तात्स्वत एव शान्तिर्मुनिर्दयामूर्तिरिवाघशान्तिम् ।।७६।।

अन्वयार्थ—(य:) जो शान्तिजिनेन्द्र **(परत:)** शत्रुओं से **(प्रजानां)** प्रजाजनों की **(रक्षां विधाय)** रक्षा कर **(चिरं)** चिरकाल तक पहले **(अप्रतिम प्रताप:)** अतुल्य पराक्रमी **(राजा)** राजा हुए **(पुरस्तात्)** फिर **(स्वत एव)** स्वयं ही **(मुनि:)** मुनि होकर जिन्होंने **(दयामूर्तिरिव)** दया की मूर्ति की तरह **(अघशातिं)** पापों की शान्ति **(व्यघात्)** की ।।२।।

कारुण्यमूर्ति—शान्तिनाथ भगवान की स्तुति में कह रहे हैं कि हे प्रभु शान्तिनाथ ! आपने क्या किया था, उसका चित्रण इस छंद में है । जिन्होंने चारों ओर से प्रजावों की रक्षा की और रक्षा करके चिरकाल तक अनुपम प्रताप वाले आप रहे । इस प्रथमपंक्ति में यह चित्रण किया है कि हे प्रभु ! आप चक्रवर्ती थे और राज्य में सारे इस भरत क्षेत्र की रक्षा की थी । इसीलिए आपका नाम जगन्नाथ है । जैसे जगन्नाथपुरी बहुत प्रसिद्ध है, वहाँ शान्तिनाथ भगवान की प्रतिमा होने से जगन्नाथ पुरी नाम पड़ा । तो जगन्नाथ के मायने हैं शान्तिनाथ । क्योंकि वे चक्रवर्ती थे, छ: खण्ड के अधिपति थे तो वे संसार के स्वामी कहलाये । तो जिन्होंने प्रजा की बड़ी रक्षा की और रक्षा कर बडे प्रतिज्ञ प्रताप वाले हुए याने जिसके प्रताप का कोई अनुमान न हो सकता हो और फिर एक दयामूर्ति बनकर स्वयं ही एक शांति उत्पन्न की और पाप को शात किया । इसमें दो चित्रण हैं-पहला तो प्रजा की रक्षा की, चक्रवर्तित्व प्राप्त किया और फिर दयामूर्ति की तरह पापों को शान्ति को किया । इसके पश्चात् निर्ग्रन्थ दीक्षा ली, छ: काय के जीवों की रक्षा की और अपने समस्त पापों को नष्ट किया । सभी कर्म आपने नष्ट किये हैं । तो पहले घातिया कर्म दूर किये । इन घातिया कर्मों को पापकर्म कहते हैं । घातिया कर्म की जितनी भी प्रकृतियां हैं वे सब पापकर्म हैं और अघातिया कर्म की प्रकृतियों में कुछ पाप-प्रकृतिया हैं और कुछ पुण्य-प्रकृतिया हैं । जो आपने पापों की शांति की । इससे यह ध्वनित हुआ कि आप अरहंत देव हुए ।

छन्द ७७

चक्रेण य: शत्रुभयंकरेण जित्वा नृष: सर्वनरेन्द्रचक्रम् ।
समाधिचक्रेण पुनर्जिगाय महोदयो दुर्जयमोहचक्रम् ।।७७।।

अन्वयार्थ—(महोदय:) गर्भावतरण आदि कल्याणकों की परम्परा से युक्त **(य:)** जो शान्ति जिनेन्द्र गृहस्थावस्था में **(शत्रुभयंकरेण)** शत्रुओं को भय उत्पन्न करने वाले **(चक्रेण)** सुदर्शन चक्र के द्वारा **(सर्वनरेन्द्रचक्रं)** समस्त राजाओं के समूह को **(जित्वा)** जीतकर **(नृप:)** चक्रवर्ती हुए और **(पुन:)** पश्चात् वीतरागावस्था में जिन्होंने

(समाधिचक्रेण) ध्यानरूप चक्र के द्वारा **(दुर्जयमोहचक्रं)** कठिनाई से जीतने योग्य मोहनीय कर्म की मूल तथा उत्तरप्रकृतियों के समूह को **(जिगाय)** जीता था ।।२।।

प्रभु का चक्राधिपतित्व—आपने शत्रुवों को भय उत्पन्न करने वाले चक्र के द्वारा समस्त नरेन्द्रों के समूह को जीता, इसमें चक्रवर्तीपना स्पष्ट है । चक्रवर्तियों को एक ऐसे विशेष चक्ररत्न की सिद्धि होती है कि इसके द्वारा सभी नरेन्द्र वश हो जाते हैं, क्योंकि एक यही ऐसा शस्त्र है कि जो सिर्फ अपने कुटुम्बी जनों की छोड़कर कहीं निष्फल नहीं जाता और उसी से ये चक्रवर्ती कहलाते हैं । जिसको चक्ररत्न की सिद्धि हुई वह चक्रवर्ती, और ऐसा चक्र नारायण के भी होता है और इसी से श्रीकृष्ण नारायण के हाथ में चक्र की फोटो होती है । श्रीकृष्ण नारायण थे, वे अर्द्धचक्री थे । नारायण अर्द्धचक्री कहलाते अर्थात् वे तीन ही खण्ड के अधिपति होते, विजयार्द्ध के उस तरफ के खण्ड रह जाते हैं । तो हे प्रभु ! आप छः खण्ड के अधिपति थे, शत्रुवों को भय उत्पन्न करने वाले चक्र के द्वारा समस्त नरेन्द्रों को जीतकर अपने समाधिचक्र के द्वारा दुर्जय मोह के चक्र को नष्ट किया । मोह का चक्र बड़ा दुर्जय है, यह ज्ञानबल से, समाधिबल से ही हटता है ।

मोहचक्र का परिचय—मोहचक्र कैसे उत्पन्न होता कि इस जीव के साथ प्रकृत्या कर्मबंधन चल रहा अनादि से । तो जो मोहनीय कर्म है वह एक पौद्गलिक प्रकृति है । उसका जब उदय होता है तो उसका उदय होने पर उस ही प्रकृति में एक भयंकर गड़बड़ी चलती है, लेकिन चूंकि वह प्रकृति जड़ है, अचेतन है सो अपने क्षोभ का, अपनी गड़बड़ी का वह अनुभव नहीं करता किन्तु वह जो क्षोभ और गड़बड़ी हुई है— विकार है कर्म में । वह विकार इस आत्मा में प्रतिबिम्बित होता है, क्योंकि यह आत्मा चेतन है और यह विकार सारा प्रतिबिम्बित हुआ, और इस जीव पर ऐसी महान भूल पड़ी है कि इन विकारों को ही अपनाता है । और जब क्षोभ को इसने अपनाया तो इसमें क्षोभ-परिणाम बनता है । जब भेदविज्ञान जगे कि यह तो जितना मोह रागद्वेष जो कुछ यह मुझमें छायारूप आ रहा है वह सब कर्मकृत परिणाम है । मैं तो एक विशुद्ध चैतन्यस्वरूप मात्र हूँ । मैं तो वह हूँ जो अपने आप अकेला रहता हो, मुझमें अकेले में जो बात हो सकती है अपने सत्त्व के कारण मुझमें तो वह है और उस स्वरूप मैं हूँ, मैं अन्य स्वरूप नहीं हूँ । जैसे दर्पण अपने आप तो स्वच्छतामात्र है, प्रतिबिम्बरूप नहीं है, परन्तु बाधक उपाधि सामने आये, कोई वस्तु सामने हुई तो उसका सन्निधान पाकर प्रतिबिम्ब बन जाता है । तो हम प्रतिबिम्ब में तो भेदविज्ञान कर लेते हैं कि यह प्रतिबिम्ब कांच का स्वरूप नहीं, यह अमुक्त का फोटो है । तो इस तरह समझ लो सीधे शब्दों में कि मुझमें जो खराबियां हैं, विकार हैं वह सब कर्म की फोटो है, मेरी चीज नहीं है, ऐसा अन्तर में भेदविज्ञान जिसके जगा है और चैतन्यस्वरूप की बार-बार भावना स्व-स्पष्ट हो गयी है वह पुरुष उस मोह-फोटो से, चित्रण से फिर अपने को विह्वल नहीं करता । जानता है कि कर्म की चीज कर्म में है, मेरी चीज मुझमें है । तो ऐसे भेदविज्ञान के बल से यह मोह का दुर्जय चक्र समाप्त होता है ।

शान्तिप्रभु का पूर्वचक्रवर्तित्व व उत्तरचक्रवर्तित्व—इस छंद में प्रभु की दो विशेषतायें कही कि जब वे घर में थे तब तो वे चक्रवर्ती थे और जब घर त्याग दिया तो समाधि-चक्रवर्ती हुए । समाधि-चक्र के द्वारा दुर्जय मोह के चक्र का विनाश किया । बड़े पुरुषों की ऐसी ही रीति होती है कि उनका अंतिम समय पवित्र बनता है । और वे मनुष्य व्यर्थ जीवन बिता गए जिनका अंतिम जीवन पवित्र न बन सका । अंतिम जीवन पवित्र बने उसका लाभ

अगले भव में होता है । यद्यपि पहला जीवन पवित्र हो और पीछे बिगड़ जाये उसका भी कुछ लाभ है, मगर पीछे का जीवन बिगड़ गया तो उससे पवित्रता का लाभ बिल्कुल कम हो जाता है । इसलिए यह सोचना चाहिए कि हम को काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह उनके लिए नहीं जीना है, किन्तु मेरे में पवित्रता बने वो मेरे को काम देगी, ये मोह रागद्वेष काम न देंगे । मेरा जो पवित्र भाव—ज्ञानदर्शन ज्ञानस्वरूपमय हूँ, इस प्रकार की बराबर भावना यह चीज चलती रहे तो उसके पवित्रता रहेगी और उससे अब भी शान्ति है और अगले भव में भी शान्ति मिलेगी । तो महापुरुषों के जब हम चरित्र सुनते हैं तो उनसे शिक्षा यह ही लेते हैं । प्रत्येक महापुरुष प्रारम्भ में पवित्र न थे, कोई काम पवित्र थे, कोई कदम गंदे थे, कोई पतित ही थे, ऐसे-ऐसे भी चरित्र हैं कि अंतिम समय उनका पवित्र बना; निसंग, निरारम्भ, निर्विकल्प केवल एक विशुद्ध ज्ञानस्वरूप के ध्यान में ही रहा उपयोग, ऐसा जीवन बना तब ही महापुरुष कहलाये और लोगों के पूज्य हुए, स्वयं निराकुलता को प्राप्त कर सके । तो ऐसे ही प्रभु शान्तिनाथ भगवान जब तक घर में रहे तब तक चक्रवर्तित्व के द्वारा दुष्टों का निग्रह और शिष्टों का अनुग्रह किया और पश्चात् सर्व त्यागकर एक समाधिभाव के द्वारा उन्होंने मोह रागद्वेष के लेशलेश को उखाड़ दिया ।

छन्द ७८

राजश्रियाराजसु राजसिंहो रराज यो राजसुभोगतन्त्रः ।
आर्हन्त्यलक्ष्म्या पुनरात्मतन्त्रो देवासुरोदारसमे रराज ।।७८।।

अन्वयार्थ—(राजसिंहः) राजाओं में श्रेष्ठ तथा **(राजसुभोगतन्त्रः)** राजाओं के उत्तम भोगों के अधीन अथवा राजाओं के उत्तम को स्वाधीन रखने वाले **(यः)** जो शान्ति जिनेन्द्र सराग अवस्था में **(राजसु)** राजाओं के बीच **(राजश्रिया)** नौ विधि तथा चौदह रत्नों से युक्त राजलक्ष्मी के द्वारा **(रराज)** सुशोभित हुए थे और **(पुन)** पश्चात् वीतरागावस्था में **(आत्मतन्त्रः)** आत्माधीन होते हुए **(देवासुरोदारसमे)** देव और धरणेद्रान्दिकों की महती सभा में **(अर्हन्त्यलक्ष्म्या)** अष्ट प्रातिहार्यरूप बाह्य तथा अनन्तज्ञानादिरूप अन्तरंग विभूति से **(रराज)** सुशोभित हुए थे ।

शान्ति प्रभु की राजसुभोगतन्त्रता व आत्मतन्त्रता—जिन शान्तिनाथ प्रभु ने राजलक्ष्मी के द्वारा राजसिंह बनकर शोभा पायी और रोज के उत्तम-उत्तम भोग जिनके अधीन रहे उन्हीं शान्तिनाथ प्रभु ने, तीर्थंकर ने पश्चात् आर्हंत्य लक्ष्मी के द्वारा अरहंत होकर देव, असुर, उदार पुरुषों की सभा में शोभा को प्राप्त किया । यहाँ दोनों चित्रण चल रहे हैं । पहले तो स्व-राजभोग के अधीन रहे, परतंत्र रहे और राजावों में सर्वश्रेष्ठ कहलाये अपनी राजलक्ष्मी के द्वारा और पश्चात् आर्हंत्य लक्ष्मी के द्वारा, केवलज्ञान लक्ष्मी के द्वारा वे आत्मतंत्र रहे, स्वाधीन रहे और फिर वे बड़े देव असुर और उदार पुरुषों की सभा में शोभा को प्राप्त हुए । इन दोनों का अन्तर कितना स्पष्ट दिख रहा है ? शोभा तो उनकी उस राज अवस्था में थी, मगर वह शोभा थी राजाओं में । और राजा सब क्या हैं? पुण्य-पाप के चक्र में फंसे हुए संसार-यातनाओं को भोगने वाले । उनमें श्रेष्ठता मिली । उस राजलक्ष्मी के लगाव का, उसके सम्पर्क का क्या फल मिला कि न कुछ जरा राजावों में तो शोभा मिली मगर रहे वे पराधीन सुख । राज के सुख के अधीन रहे और पश्चात् उनकी कितनी पवित्र अवस्था बनी कि केवलज्ञान लक्ष्मी पायी

और, इन्द्रों की सभाओं में, देवों की सभा में वे शोभा को प्राप्त हुए । तो यही भी यह देखो कि बहुत बड़े पुण्यवान थे प्रभु, लेकिन पहली शोभा से यह शोभा कितनी गुणित है । और वहाँ थी परतंत्रता, यहाँ है स्वाधीनता । वहाँ थी शोभा मोहियों में, यहाँ है शोभा सर्व प्राणियों में । तो प्रभु ! आपकी जो एक उत्तर दशा है ऐसी अंतिम पवित्रता है वह जगत के लिए पूज्य है ।

छन्द ७९

यस्मिन्नभूद्राजनि राजचक्रं मुनौ दयादीधिति धर्मचक्रम् ।

पूज्ये मुहु: प्राञ्जलि देवचक्रं ध्यानोन्मुखे ध्वंसि कृतान्तचक्रम् ।।७९।।

अन्वयार्थ—(यस्मिन्) जिन शान्तिनाथ भगवान के **(राजनि 'सति')** राजा होने पर **(राजचक्रं)** राजाओं का समूह **(प्राञ्जलि)** बद्धाञ्जलि **(अभूत्)** हुआ था, जिन शान्तिनाथ भगवान् के **(मुनौ 'सति')** मुनि होने पर **(दयादीधिति)** दयारूप किरणों से युक्त अथवा दया को प्रकाशित करने वाला **(धर्मचक्रं)** उत्तम क्षमा आदि धर्मों का समूह **(प्राञ्जलि)** अपने अधीन हुआ था अथवा जिन शान्तिनाथ भगवान् के **(मुनौ)** समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले केवलज्ञानी होने पर **(दयादीधिति)** दयारूप किरणों से युक्त **(धर्मचक्रं)** देवरचित धर्मचक्र **(प्राञ्जलि)** अपने अधीन हुआ था, जिन शान्तिनाथ भगवान् के **(पूज्ये)** पूज्य होने पर—समवसरण में स्थिति होकर धर्मोपदेशक होने पर **(देवचक्रं)** देवों का समूह **(मुहु:)** बारबार **(प्राञ्जलि)** बद्धाञ्जलि हुआ था और जिन शान्तिनाथ भगवान् के **(ध्यानोन्मुखे)** व्युपरतक्रियानिवर्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यान के सम्मुख होने पर **(ध्वंसि)** क्षय को प्राप्त होता हुआ **(कृतांतचक्रं)** कर्मों का समूह **(प्राञ्जलि)** शरण की भिक्षा के लिये बद्धाञ्जलि हुआ था ।

शान्तिप्रभु के राजचक्र, धर्मचक्र, देवचक्र व कृतान्तचक्र का क्रमश: दर्शन—जिन महापुरुषों में, राजाओं में तो राजचक्र थे और मुनि होने पर दया की किरणों का धर्मचक्र रहा और जिन पूज्य-पूज्य में यह सारा देवचक्र, सारा देवसमूह प्रणत रहे, अंजलि जोड़कर नमस्कार करता था, और जब आप ध्यान के उन्मुख रहे, ध्यानस्थ रहे तो यह कालचक्र ध्वंस हो गया । यहा प्रभु की चार अवस्थाओं का प्रदर्शन है । पहले तो राज्य अवस्था में राज्यचक्र ही उनके पास था फिर मुनि अवस्था में दयाचक्र उनके साथ रहा और फिर जब केवलज्ञान हुआ, अरहंत भगवान हुए तब देवचक्र उनकी सेवा में प्रणत रहा और जब सयोगकेवली की अंतिम अवस्था हुई, सयोग केवली हुए, निर्वाण को प्राप्त हुए तो वहाँ मरणचक्र समाप्त हो गया । भगवान के आयुक्षय का नाम निर्वाण कहा जाता है । इस तरह प्रभु ! आपके जीवन में चार अवस्थाओं में ये चार स्थितिया हुई ।

छन्द ८०

स्वदोषशान्त्याविहितात्मशान्ति: शान्तेर्विधाता शरणंगतानाम् ।

भूयाद्भवक्लेश भयोपशान्त्यै शान्तिर्जिनो मे भगवान शरण्य: ।।८०।।

अन्वयार्थ—(स्वदोषशान्त्या) अपने रागादि दोषों की शान्ति के से **(विहितात्मशान्ति:)** जिन्हें आत्मशान्ति की प्राप्ति हुई है, जो **(शरणं गतानां)** शरण में आये हुए जीवों को **(शान्तेर्विधाता)** शान्ति करने वाले हैं, जो **(जिन:)**

कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाले हैं, **(भगवान्)** विशिष्टज्ञान अथवा लोकोत्तर ऐश्वर्य से सहित हैं तथा **(शरण्य:)** शरण देने में निपुण हैं **(स:)** वे **(शान्ति:)** शान्तिनाथ जिनेन्द्र **(मे)** मेरे **(भवक्लेशभयोपशान्त्यै)** संसारपरिभ्रमण, क्लेशों और भयों की शान्ति के लिये **(भूयात्)** हों ।।५।।

शान्तिप्रभु के शरणागत की शान्तिपात्रता—हे प्रभु ! आपने अपने दोषों को शान्ति के द्वारा आत्मशान्ति प्राप्त की । कोई भी जीव अपने में शान्ति पा सकेगा तो दोषों का शमन करके ही पा सकेगा । दोष क्या हैं? मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ; ये ५ महादोष हैं । जब तक मोह है तब तक शान्ति नहीं मिलती । क्रोध लग रहा तो शान्ति नहीं मिलती । चाहे किसी के न्याय पर क्रोध जग रहा हो चाहे अन्याय पर, चाहे भूल से जग रहा हो चाहे उपयोगबुद्धि में रहकर । क्रोध तो क्रोध है । क्रोध के समय में शान्ति नहीं रहती । भले ही कुछ भेद डाल दिया जाये, मगर क्रोध की जो प्रकृति है शान्ति को भस्म कर देना, वह प्रकृति नहीं मिटती । यों ही जब तक मान **(घमंड)** का भाव रहता है तब तक शान्ति नहीं मिलती । न जाने अज्ञान में क्या-क्या चाहता है, क्या-क्या पुलावे बनाता है ? मायाचार में तो एक दिल ही बड़ा विकट बेढंगा हो जाता है । चैन नहीं पड़ती । अनेक शल्य सताते हैं और लोभ तृष्णा में तो शान्ति ही कही रखी है? तो जब दोषों की शान्ति हो तब ही आत्मा में शान्ति हो । अब इन दोषों की शान्ति के लिए क्या प्रयोग करना? क्या दोषों को सामने रखकर एक-एक दोष को हटायें? इस तरह से दोष नहीं हट सकते, दोषों पर दृष्टि देकर कोई सोचे कि मैं इन्हें मिटाऊंगा । तो इस तरह से दोष नहीं मिट सकते । सारे दोष मिटाने का उपाय यह है कि अपने को मात्र ज्ञानस्वरूप अनुभव करना । दुष्टों से प्रेम करे तो नुकसान, द्वेष करे तो नुकसान । लोक में जैसे यह देखा जाता है ऐसे ही दोष की दृष्टि, दोषों को हटाने का भाव, कुछ भी करे, आखिर दोष जो उपयोग में आ ही गए । उन दोषों को मिटाने का उपाय दोषरहित अपने विशुद्ध चैतन्यस्वरूप की भावना करना है । मैं चैतन्यमात्र हूँ । दोषों को विधि से भी न देखें, निषेध से भी न देखें । दोषों की चर्चा ही न हो, दोषों को ध्यान में ही न लायें । यह उत्कृष्ट उपाय की बात कह रहे । मतलब? नाम ही न रहे । एक अपना जो चैतन्य स्वरूप है उस स्वरूपमात्र अपना अनुभव बने तो दोषों की शान्ति नियम से होती है । तो प्रभु ने ऐसे ही अपने दोषों की सम्हाल के द्वारा दोषों की शान्ति की और उन दोषों को शान्ति के कारण आत्मशान्ति प्राप्त हुई । और हे प्रभु ! शरण में आये हुए पुरुषों के लिए आप शान्ति के करने वाले हो । यद्यपि आप स्वयं विकल्प करके कहीं शान्ति नहीं किया करते । आप तो अपने ही ज्ञानानन्द में दृढ़ हो,, पर जो भक्त आपके इस विशुद्ध स्वरूप का ध्यान करता है उसके दोषों का शमन होता है और उसको शान्ति मिलती है । तो जिसका निमित्त पाकर या जिसकी उपासना की धुन में इस जीव ने शान्ति प्राप्त को वह भक्ति में यह ही तो कहेगा कि आप शान्ति के करने वाले हो । सो हे प्रभु ! आप ऐसे शान्त जिनेन्द्र प्रभु हैं । मेरे संसार के क्लेश और भय की शान्ति के लिए हो । यह ही मेरे को एक शरण्य है, इसके उस विशुद्ध स्वरूप की आराधना रहे । उस आराधना के प्रताप से संसार के क्लेश शान्त हों, एक यह हो मेरी भावना है और इसीलिए हे प्रभु ! आपकी मैं शरण गहता हूँ ।

(१७) कुन्थुजिनस्तवनम्

(वसन्ततिलकाछन्द)

छन्द ८१

कुन्थुप्रभृत्यखिल सत्वदयैकतानः कुन्थुर्जिनोज्वरजरामरणोपशान्त्यै ।

त्वं धर्मचक्रमिह वर्तयसि स्म भूत्यै भूत्वा पुरा क्षितिपतीश्वरचक्रपाणिः ।।८१।।

अन्वयार्थ—(कुन्थुप्रभत्यखिल सत्वदयैतानः) कुन्थु आदि समस्त जीवों पर एक मुख्य रूप से दया का विस्तार करने वाले **(कुन्थु जिनः)** कुन्थुनाथ जिनेन्द्र थे । हे भगवन् **(त्वं)** आपने **(पुरा)** पहले गृहस्थावस्था में **(भूत्यै)** राजविभूति के निमित्त **(क्षितिपतीश्वरचक्रपाणिः)** राजाधिराज चक्रवर्ती **(भूत्वा)** होकर पश्चात् **(इह)** इस संसा रमें **(ज्वरजरामरणोपशान्त्यै)** समस्त रोग, बुढ़ापा और मरण के विनाश से युक्त **(भूत्यैः)** मोहक्ष्मी के लिये **(धर्मचक्रं)** धर्म के समूह को अथवा देवरचित धर्मचक्रनामक अतिशय विशेष को **(वर्तयसि स्म)** प्रवर्तित किया था ।

कुन्थुनाथ प्रभु का चक्राधिपतित्व—कुन्थुनाथ भगवान का स्तवन हो रहा है । तुच्छ प्राणियों से लेकर समस्त जीवों में दया का ही जिसमें विस्तार है ऐसे कुन्थुनाथ जिनेन्द्र शान्ति के लिए हों । जिनकी स्वयं की भी प्रवृत्ति ऐसी रही कि छोटे से लेकर बड़े पर्यन्त सभी जीवों के प्रति सही रक्षा का भाव रहा और तभी जब भगवान की दिव्यध्वनि खिरी और उनका उपदेश हुआ, उनके सिद्धान्त का प्रसार हुआ तो उस सिद्धान्त में सब जीवों की रक्षा की बात आयी । जो बड़े बुद्धिमान हैं, निकट भव्य हैं उनको मोक्ष का उपदेश है । जो अभी बहुत पीछे हैं उनको पुण्यकार्य का उपदेश है और ज्ञानार्जन का उपदेश है, और जो एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक असंज्ञी जीव हैं उनको उपदेश तो हो ही क्या सकता है, क्योंकि उनके मन नहीं है तो जीवनरक्षा का जो सिद्धान्त चला है, उसके पालन करने वाले लोग हुए तो उनके द्वारा इन एकेन्द्रिय आदिक जीवों की रक्षा हुई । तो प्रभु का सिद्धान्त सर्व जीवों के हित के लिये है । सो ऐसे कुन्थुनाथ जिनेन्द्र हमारे रोग, बुढ़ापा, मरण आदिक रोगों की शान्ति के लिए हों । जो खुद शान्तस्वरूप हैं, जो खुद दया की मूर्ति हैं उनके स्वरूप का ध्यान करने से भक्त स्वयं शान्ति प्राप्त करता है । सभी शान्ति का यहा संकेत है । ये कुन्थुनाथ जिनेन्द्र इन्होंने पहले तो राजावों के अधिपति होकर, चक्रवर्ती होकर एक चक्र का विस्तार किया, पश्चात् यहा धर्मचक्र का विस्तार किया, धर्मचक्र की प्रवृत्ति की । कुन्थुनाथ जिनेन्द्र चक्रवर्ती थे । मुनि होने से पहले और फिर अरहंत होकर एक धर्मचक्र का प्रभाव बढ़ाया ।

छन्द ८२

तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासामिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव ।

स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्तमित्यात्मवान्विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत् ।।८२।।

अन्वयार्थ—(तृष्णार्चिषः) विषयाकांक्षारूप अग्नि की ज्वालायें **(परिदहन्ति)** इस जीव को सब ओर से जला रही हैं**(इष्टेन्द्रियार्थविभवैः)** इष्ट इन्द्रियों के विषयों से **(आसां)** इस विषयाकांक्षारूप अग्नि की ज्वालाओं की **(न**

शान्तिः) शान्ति नहीं होती किन्तु **(परिवृद्धिरेव)** सब ओर से वृद्धि ही होती है । यह वृद्धि **(स्थित्यैव)** इन्द्रिय विषयों के स्वभाव से ही होती है **(निमित्तं)** निमित्त कारण **(कायपरितापहरं)** मात्र शरीर के संताप को हरने वाला होता है विषयाकांक्षारूप अग्निज्वालाओं का उपशमन करने वाला नहीं होता । हे भगवन् ! **(अति)** यह सब विचार कर ही **(आत्मवान)** जितेन्द्र होते हुए आप **(विषयसौख्यपराङ्मुखः)** विषयजन्य सुख से पराङ्मुख **(अभूत्)** हुए थे ।

आत्मवान् की विषयपराङ्मुखता—संसारी प्राणियों को तृष्णा की ज्वालायें-लपटें जला रही हैं । जीव स्वयं ज्ञानानन्द का पिण्ड है । इसका सहज स्वभाव गम्भीर, धीर, पवित्र, शांत है, पर कैसा ही कारण पाकर हुआ, इस जीव में तृष्णा की बात आयी । बाह्य पदार्थों के प्रति इसके तृष्णा का भाव उठा कि बस यह ही निरन्तर आकुलित करने वाली है । इस तृष्णा-ज्वाला की वृद्धि से या इष्ट इन्द्रिय अर्थ वैभव मिला तो इससे इस ज्वाला की शान्ति नहीं होती, उल्टे बढ़ती है । जैसे अग्नि में ईंधन डालने पर अग्नि शान्त नहीं होती, मिट नहीं जाती, किन्तु बढ़ती है इसी प्रकार इस जीव को जैसे-जैसे इष्ट समागम मिलता जाये, वैभव मिलता जाये तो तृष्णा-अग्नि शान्त नहीं होती, प्रत्युत बढ़ती है । संसारमार्ग और मोक्षमार्ग— ये दो विभिन्न मार्ग हैं । जिनको मोक्षमार्ग चाहिए, जो अपना सारा भविष्य उज्ज्वल रखना चाहते हैं, कल्याण चाहते हैं वे इतने गम्भीर विरक्त ज्ञानी होते हैं कि वे इन लौकिक बातों को देखकर तृष्णा में नहीं आते । जो जीव तृष्णा के वश हैं वे लौकिक जीव हैं और जो तृष्णा के वश नहीं हैं वे अलौकिक पुरुष हैं । तो इस तृष्णा-अग्नि की ज्वालाओं ने इस संसारी प्राणी को जला दिया है । इस तृष्णा की शांति मनचाहे पदार्थों के मिलने से नहीं होती, बल्कि बढ़ती है । कोई यह सोचे कि इतना परिग्रह जोड़ लूं फिर मुझे कोई काम नहीं, फिर शान्ति से रहूंगा, यह उसका एक कोरा ख्याल है । वैभव मिल गया तो भीतर में तृष्णा-अग्नि और बढ़ती है । कदाचित् व्रत ले रखा हो और न ही उससे अधिक संचय करे तो भी भीतर की तरंगे ये बड़ी अनिवारित हैं । सो इनकी ओर से ध्यान ही कोई हटाये और तृष्णारहित, कषायरहित नित ज्ञानानन्दस्वरूप का ध्यान रखे तो शान्ति मिल सकती, पर जगत् के वैभवों के पाने से इसे शांति नहीं मिल सकती । ये इन्द्रियविषय सौख्य वैभव ये जब तक रहते हैं तब तक या जब तक इनका समागम है तब तक ही थोड़ासा एक संताप दबासा रहता है, पर भीतर नहीं दब सकता । भीतर तो आकुलता ही है । अगर थोड़ासा शारीरिक सुख मिल गया, आराम से रहने लगे, शरीर का संताप दूर हो गया तो स्थिति मात्र ही है यह । थोड़े क्षण की ही बात है यह । वस्तुतः तब भी शांति नहीं, मगर ऐसे दिन सदा किसके रहते हैं ? एक घंटा भी नहीं गुजर पाता किसी का कि जो एक घंटे तक लगातार सुख ही सुख का अनुभव करे । तो ऐसी असारता जानी प्रभु ! आपने, इसी कारण आत्ममग्न होकर आप वैषयिक सुखों से पराङ्मुख हुए ।

छन्द ८३

बाह्यं तपःपरमदुश्चामाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिवृंहणार्थम् ।

ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरेऽस्मिन् ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने ।।८३।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् **(त्वम्)** आपने **((आध्यात्मिकस्य)** अन्तरङ्ग **(तपसः)** तप की **(परिवृंहणार्थम्)** वृद्धि के

लिये **(परम दुश्चरं)** अत्यन्त कठिन **(बाह्यं तप:)** अनशनादि बाह्य तप का **(आचर:)** आचरण किया था तथा **(कलुषद्वयं)** आर्त्तरौद्र रूप दो खोटे **(ध्यानं)** ध्यानों को **(निरस्य)** छोड़कर आप **(अतिशयोपपन्ने)** उत्कृष्ट अतिशय से युक्त अथवा अपने अवान्तर भेदों से सहित **(उत्तरस्मिन्)** आगे के **(ध्यानद्वये)** धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान इन दो ध्यानों में **(ववृतिषे)** स्थिर हुए थे ।

आध्यात्मिक तप की वृद्धि के लिये बाह्य तप का आचरण—प्रभु ! कुन्थुनाथ जिनेन्द्र ! आपने जो बहिरंग कठोर आचरण आचरा, तप किया और-और भी नियम किया तो बाह्य जो आचरण आपने आचरा सो आध्यात्मिक तप की वृद्धि के लिए ही आचरा । जिसका हेतु पौद्गलिक है, उसको किसी भी प्रकार क्रिया करने से या उसकी कुछ भी स्थिति बनाने से शान्ति का संबंध नहीं है, शान्ति होती है आध्यात्मिक तपश्चरण से । सो जो कुछ बाह्य में तपश्चरण किये जाते हैं उनका प्रयोजन है अंतरंग मायने ज्ञानस्वभाव की उपासना । तो हे प्रभु ! आपने बहिरंग तपश्चरण किया है आध्यात्मिक तप की वृद्धि के लिए । सो आपने खोटे जो दो ध्यान हैं—**(१)** आर्तध्यान और **(२)** रौद्रध्यान, इन दोनों ध्यानों का निराकरण करके जो उत्तम अतिशय सहित जो दो ध्यान हैं—धर्मध्यान, शुक्लध्यान, जिनके ध्यान में आपके उपयोग की वृत्ति गई, फिर संसार के हेतुभूत आर्तध्यान और रौद्रध्यान को त्यागकर धर्मध्यान और शुक्लध्यान में आपका उपयोग रहा । प्रभु के स्तवन का प्रयोजन यह है कि जो प्रभु की अवस्था है वही मेरी अवस्था बने । इस प्रकार का एक उत्साह जगता है । और प्रभु ने जिस विधि से जो कार्य किया वह मेरी विधि बने और उसी मार्ग का अनुक्रमण हो । तो यहाँ प्रभु के गुण गाये जा रहे हैं । उन्होंने बाहर क्या किया और अंतरंग में क्या किया इसका इसमें चित्रण किया है ।

छन्द ८४

हुत्वा स्वकर्मकटुकप्रकृतीश्चतस्रो रत्नत्रयातिशयतेजसिजातवीर्यः ।

विभ्राजिषे सकलवेदविधेर्विनेताव्यभ्रे यथा वियति दीप्तरुचिर्विवस्वान् ।।८४।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (चतस्रः स्वकर्मकटुकप्रकृतीः) अपने कर्मों की चार कटुक प्रकृतियों को **(रत्नत्रयातिशयतेजसि)** सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की प्रकृष्टता रूप अग्नि में **(हुत्वा)** होम कर **(जातवीर्यः)** आप सामर्थ्यवान् अनन्तवीर्य से युक्त हुए तथा **(सकलवेदविधेः)** समस्त लोकालोक विषयक ज्ञान के विधायक परमागम के **(विनेता)** प्रणेता होकर **(तथा)** उस तरह **(विभ्राजिषे)** देदीप्यमान हुए **(यथा)** जिस तरह कि **(व्यभ्रे)** मेघ रहित **(वियति)** आकाश में **(दीप्तरुचिः)** देदीप्यमान किरणों से युक्त **(विवस्वान्)** सूर्य ।

प्रभु की परमदीप्ति का दर्शन—हे प्रभु ! आपने खोटे कटुक चार प्रकृतियों को पहले जलाया मायने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय—इन चार घातिया कर्मों का पहले दहन किया । काहे के द्वारा? रत्नत्रय के अतिशय से जो तेज जगा या रत्नत्रय बढ़ता जाता, यही एक महान तेज है । उस तेज में जिसकी शक्ति प्रकट हुई, ऐसे प्रभु ! आप चार घातिया कर्मों को जलाकर सर्व ज्ञानों की विधि के नेता हुए, सर्वज्ञ हुए और सबको आपने सन्मार्ग में प्रवर्ताने की पद्धति बतायी । सो इस तरह आप शोभायमान हो रहे हैं । जैसे मानो मेघरहित आकाश में दीप्त किरण वाला सूर्य चमकता है, प्रकाशित होता है इसी प्रकार आपने भी रत्नत्रय के तेज

से चार घातिया कर्मों को नष्ट करके एक सुख शान्ति प्राप्त की है और लोगों को सन्मार्ग बताया ।

छन्द ८५

यस्मान्मुनीन्द्र ! तव लोकपितामहाद्या विद्याविभूतिकणिकामपि नाप्नुवन्ति ।

तस्माद्भवन्तमजमप्रतिमेयमार्याः स्तुत्यं स्तुवन्ति सुधियः स्वहितैकतानाः ।।८५।।

अन्वयार्थ—(हे मुनीन्द्र) हे यतिनाथ ! **(यस्मात्)** चूंकि **(लोकपितामहाद्याः)** ब्रह्मा आदिक लौकिक देवता **(तव)** आपकी **(विद्याविभूतिकणिकामपि)** केवलज्ञानरूप विद्या और समवसरणरूप विभूति के एक कण मात्र को भी **(न अप्नुवन्ति)** नहीं प्राप्त करते हैं **(तस्मात्)** इसलिये **(सुधियः)** उत्तम बुद्धि के धारक **(स्वहितैकतानाः)** एक आत्महित में निमग्न-मोक्ष के अभिलाषी **(आर्याः)** गणधरादिदेव **(अजं)** जन्म से रहित, **(अप्रतिमेयं)** अपरिमित-अनन्त तथा **(स्तुत्यं)** स्तुति के योग्य **(भवन्तं)** आपकी **(स्तुवन्ति)** स्तुति करते हैं ।

प्रभु की अप्रतिमेयता—हे प्रभु ! आपके सिद्धान्त से विमुख हुए अनेक जन कितना ही तपश्चरण करें, कितना ही प्रयास करें, लेकिन विद्या-विभूति में लवलेश को भी नहीं पा सकते । कोई अलौकिक विभूति है तो वह विद्या ही है, ज्ञान ही है । इस सम्यग्ज्ञान के वैभव को, इस सम्यक् के वैभव को वे लोग नहीं पा सकते हैं इसी कारण विद्वान् लोग आपका ही आश्रय करते हैं और आपका ही स्तवन करते हैं । हे प्रभु ! आप अज **(जन्म से रहित)** हैं । वस्तु तो प्रत्येक अज है, सत्ता से सिद्ध है । ऐसा आपका जो ऐश्वर्य है, प्रभुता है वह भी किसी से पैदा नहीं हुई इसलिए आप अज हैं, अनुपम हैं । आचार्यजन आपका ही स्तवन करते हैं । जिनको कि अपने एक कल्याण की ही धुन है ऐसे पुरुष सहज ज्ञानस्वभाव की प्रतिमूर्ति जो भगवान हैं उन भगवान की उपासना करते हैं और स्वयं आत्मविकास करके वे निकट काल में निर्वाण को प्राप्त करेंगे ।

(१८) श्री अरजिनस्तवनम्

(पथ्यावक्त्रछन्द)

छन्द ८६

गुणोस्तोकं सदुल्लङ्घयं तद्वहुत्वकथा स्तुतिः ।

आनन्त्यात्ते गुणावक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ।।८६।।

अन्वयार्थ—(सद्) विद्यमान **(गुणस्तोकं)** अल्प गुणों का **(उल्लङ्घय)** उल्लङ्घन कर **(तद्बहुत्वकथा)** उन गुणों की अधिकता का कथन करना **(स्तुतिः)** स्तुति कहलाती है परन्तु **(आनन्त्यात्)** अनन्त होने के कारण **(ते)** आपके **(गुणाः)** गुण **(वक्तमशक्याः)** कहने के लिये अशक्य है अतः **(त्वयि)** आपके विषय में **(सा)** वह स्तुति **(कथं)**

किस प्रकार संभव है ।।१।।

प्रभुगुणों की अवक्तव्यता का कारण—यह अरहनाथ भगवान का स्तवन है । कहते हैं कि स्तुति कहते किसे हैं? किसी में गुण तो थोड़े हों और उन गुणों से बढ़कर बहुत बड़ी कथा करे, बहुत अधिक गुण बताये उसका नाम स्तुति है । लेकिन हे प्रभु ! आप में तो उनसे उल्टी बात है कि गुण तो हैं बहुत और बोल सकते नहीं, तो स्तवन हम कैसे कर सकते? प्रभु के स्तवन के समय समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि तुम्हारी स्तुति कोई करने में समर्थ हो ही नहीं सकता, क्योंकि स्तवन तो उसका नाम है कि गुण तो हों थोड़े और उसे बढ़ाकर बहुत-बहुत कहे, मगर आपके गुण तो अनन्त हैं । अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति और सभी अनन्त । तो ऐसे और भी अनेक अनन्त गुण हैं, और वे गुण बोले जा नहीं सकते, इसलिए आपका स्तवन कोई भी करने में समर्थ नहीं हो सकता । जैसे नदी के किनारे जहाँ रेत बहुत है तो आखों से रेत तो दिख जाता है, मगर उन रेत के दानों की कोई गिनती कर सकता है क्या? तो जैसे रेत की पूरी गिनती नहीं कर सकता, ऐसे ही प्रभु ! आपके गुणों की कोई गिनती या बखान नहीं कर सकता । आप स्तवन से अतीत हो । स्तवन तो लौकिक बातों का हुआ करता है । थोड़े गुण हों, ज्यादा बोल दिया वह भी गुणा हो गया जिसके गुण कहे जाते, मगर आपके अनन्त गुण हैं, बोले जा सकते नहीं और कोई कहे कुछ तो उससे आप खुश होते नहीं, क्योंकि आप वीतराग हैं, इसलिए आपके विषय में कुछ भी स्तवन करना अशक्य है ।

छन्द ८७

तथापि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामापि कीर्तितम् ।
पुनाति पुण्यकीर्तेर्नस्ततो ब्रूयाम किञ्चन ।।८७।।

अन्वयार्थ—यद्यपि आपके गुणों की स्तुति अशक्य है **(तथापि)** तो भी **(पुण्यकीर्ते)** प्रशस्त यशवाणी अथवा ख्याति के धारक तथा **(मुनीन्द्रस्य)** गणधरादि मुनियों के स्वामी **(ते)** आपका **(कीर्तितं)** उच्चरित **(नामापि)** नाम भी **(यत:)** चूंकि **(न:)** हमें **(पुनाति)** पवित्र करता है **(तत:)** इसलिये **(किञ्चन)** कुछ **(ब्रूयाम्)** कहते हैं ।

प्रभुनामकीर्तन से भी पवित्रता की संभवता—फिर कोई पूछ सकता है ऐसा कि जब भगवान के गुण गाये नहीं जा सकते उतने गुण हैं उनका स्तवन नहीं बन सकता तो फिर हे समंतभद्र ! तुम यहाँ आये क्यों और भगवान का स्तवन क्यों कर रहे? उसका उत्तर दिया है कि हे प्रभु ! यद्यपि तुम्हारे गुण अनन्त हैं और ये बखाने नहीं जा सकते फिर भी हे मुनीन्द्र ! मैं आपका स्तवन कर रहा हूँ । स्तवन की तो बात क्या, अगर कोई आपका श्रद्धाभक्ति से ज्ञानसहित नाम भी लेवे तो उससे उसका हृदय पवित्र होता है । यों भगवान के गुण तो नहीं बखाने जा सकते, किन्तु भगवान की भक्ति हो, भगवान के स्वरूप का थोड़ा ध्यान, जाप, नाम ले कोई तो उसका मन पवित्र हो जाता है । तो हम लोग पवित्र हो जाते हैं, इसलिए थोड़ा हम कुछ बोल रहे हैं, स्तवन कर रहे हैं । स्तवन का फल ही यह है । अभी ध्यान में कोई ममता की चीज आ जाये तो तुरन्त संक्लेश होता है, खेद होता है, ऐसा क्यों हुआ? और प्रभु के स्वरूप की सुध होती है, प्रभु के नाम की सुध होती है तो वहाँ शान्ति रहती है, मन प्रसन्न रहता है, पवित्रता बनती है । तो चूंकि आपका सम्बंध है इस कारण से मनुष्यों के

पवित्रता बढ़ती है और वह सम्बंध है उसके उपयोग द्वारा याने भक्त आपके स्वरूप का आपका नाम भले ही लेते हैं, मगर उसका पूरा ध्यान चलता जाता है । जैसे कोई ज्ञानी पुरुष यहाँ जो जानकार हो, किसी का नाम ले तो पूरी बात उसके चित्त में आ जाती है, इस तरह से जो ज्ञानी भक्त है जब भगवान का नाम लेता है तो भगवान का पूरा चित्रण— वे वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं, वह उपयोग में आता है, और जहाँ उपयोग में राग न रहे, उपयोग में वीतरागता का ही ध्यान रहे तो वह उपयोग भी पवित्र हो जाता है । इस कारण से हम कुछ बोलते हैं ।

छन्द ८८

लक्ष्मीविभवसर्वस्वं मुमुक्षोश्चकला ij छनम् ।

साम्राज्यं सार्वभौमं ते जरत्तृणमिवाभवत् ।।८८।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! **(लक्ष्मीविभवसर्वस्वं)** लक्ष्मी की विभूतिरूप सर्वस्व से युक्त तथा **(चक्रलाञ्छनं)** सुदर्शनचक्ररूप चिह्न से सहित **(सार्वभौमं)** समस्त पृथ्वी संबंधी जो **(ते)** आपका **(साम्राज्यं)** साम्राज्य था वह **(मुमुक्षोः)** मोक्ष के इच्छुक होने पर आपके लिये **(जरत्तृणमिव)** जीर्ण तृण के समान **(अभवत्)** हो गया था ।

प्रभु के लिये सार्वभौम साम्राज्य की जरत्तृणरूपता—अरहनाथ भगवान चक्रवर्ती हुए, कामदेव हुए, तीर्थकर हुए, तीन पदों के धारक थे, इसी कारण यह प्रसिद्धि है कि प्रायः करके जब मूर्ति बनाते हैं तो शान्ति, कुन्थु, अरह; ये तीन मूर्तियां बनाते हैं । पहले इसका रिवाज यहाँ बहुत रहा, क्योंकि इन तीनों को जगन्नाथ बोलते हैं । छह खण्ड की विभूति के स्वामी थे । तो तीन को मूर्ति बहुधा करके लोग इकट्ठा बनाते हैं और सुना तो यह गया कि चूंकि जैनधर्म का इस विश्व में सर्वत्र प्रचार था, तो जो अरब, काबुल आदिक पास-पास के देश हैं, उन अनेक देशों में अब भी अनेक मूर्तियाँ निकलती हैं, और कभी इन तीन मूर्तियों के मंदिर भी थे बहुत जगह, पर किसी समय किसी के मन में आया कि इन पत्थरों की क्यों पूजा करते? पर उनके बुजुर्ग भक्त लोगों ने रोका और उनके आगे एक पत्थर लगा दिया, मूर्ति ढक गई । पत्थर लगा दिया तो एक अन्य तरह का उपासनास्थान बन गया । तो आजकल भी लोग उस पत्थर की पूजा करते हैं जिसके अन्दर शान्ति, कुन्थु, अरहनाथ की मूर्तियां हैं । तो ये अरहनाथ भगवान चक्रवर्ती हुए । तो कहते हैं कि उस समय आपके पास लक्ष्मी विभव साम्राज्य था, क्योंकि आप छह खण्ड के अधिपति थे । तब तो आपके पास सुदर्शन चक्र था और महान् साम्राज्य था, आपका राज्य सार्वभौम था । लेकिन जब आप मुमुक्षु बने, मोक्ष के पथ की ओर बढ़े तो वह सबका सब वैभव शीर्ण तृण के समान आपके लिए हो गया । जैसे कोई तृण से प्रीति नहीं रखता । कोई कुछ थोड़ी बहुत तुरग से प्रीति रख भी ले, मगर जीर्ण-शीर्ण, सड़े-गले तुरग से कोई प्रीति नहीं करता । तो वह सब वैभव आपका जीर्ण तृण के समान हो गया था अर्थात् आप चक्री भी थे, किन्तु जब आप वैराग्य में बढ़े, मुक्ति के मार्ग में बढ़े तो वह सारा वैभव जीर्ण-शीर्ण तृण के समान आपको निसार दिखने लगा । प्रभु के स्तवन में यह ही तो ध्यान में लाना चाहिए कि जो प्रभु ने किया सो मेरे करने को है । प्रभु ने जीर्ण-शीर्ण तृण के समान इस जगत को जाना और इसे छोड़ा, तो ऐसा ही हमें करना पड़ेगा । यह होगा ज्ञानबल से, सहज होगा । जब ऐसा हो पायेगा तब

अशान्ति का जाल मिटेगा और शान्ति के पथ पर बढ़ेंगे ।

छन्द ८९

तव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान् ।

द्वयक्षः शक्रः सहस्राक्षो बभूव बहुविस्मयः ।।८९।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! **(तव)** आपके **(रूपस्य)** शरीर सम्बन्धी रूप की **(सौन्दर्य)** सुन्दरता को **(दृष्टवा)** देखकर **(तृप्तिं)** संतोष को **(अनापिवान्)** प्राप्त न होने वाला **(द्वयक्षः)** दो नेत्रों का धारक **(शक्रः)** इन्द्र **(बहुविस्मयः)** बहुत भारी आश्चर्य से युक्त **(सहस्राक्षः)** एक हजार नेत्रों का धारक **(बभूव)** हुआ था ।

प्रभुसौन्दर्य की बहुविस्मयकारिता—हे अरहनाथ जिनेन्द्र ! तुम्हारे रूप का सौन्दर्य देख करके इन्द्र भी तृप्त न होता था । सर्व तीर्थंकर सहज सुन्दर शरीर के होते हैं, फिर भी ये अरहनाथ कामदेव थे । कामदेव कहते हैं —बहुत सुन्दर मनोज्ञ शरीर वाले को । जैसे हनुमान भी कामदेव हुए । उनका बड़ा सुभग सुन्दर शरीर था, पर चूंकि वह हनुरुह द्वीप में उत्पन्न हुए थे, इससे हनुमान नाम पड़ा था, यह तो ठीक है, पर वानर वंश के कुल में थे इसलिए लोग वानर जैसा मुख बनाने लगे, पूंछ लटकाने लगे । लेकिन हनुमान का रूप बहुत ही सुन्दर था, उन्हें कामदेव कहते थे । तो अरहनाथ स्वामी का भी रूप बहुत सुन्दर था और उन्हें भी कामदेव कहते थे । तो आपके इस रूप सौन्दर्य को देखकर इन्द्र तृप्त न हुआ और उसके दो आँख तो थे, पर खोले ऐसा देखता रहा कि उसको उस रूप का अवलोकन करने के लिए और तृप्त होने के लिए, मन भरने के लिए हजार नेत्र बनाने पड़े, तिस पर भी वह तृप्त न हो सका । अर्थात् हजार नेत्र बनाये इन्द्र ने भगवान का रूप देखने के लिए और अपना मन भरने के लिए, लेकिन हजार नेत्र बनाकर देखने पर भी तृप्त न हो सका । इस छंद में यह बताया गया कि प्रभु तीर्थंकर थे, चक्रवर्ती भी हुए, मगर साथ ही साथ वे कामदेव पद के धारी भी थे ।

छन्द ९०

मोहरूपो रिपुः पापः कषायभटसाधनः ।

दृष्टिसम्पदुपेक्षास्त्रैस्त्वया धीर पराजितः ।।९०।।

अन्वयार्थ—(हे धीर) परीषहादि से जिनका चित्त कभी क्षोभ को प्राप्त नहीं होता ऐसे हे अर जिनेन्द्र ! **(त्वया)** आपने **(पापः)** पापरूप तथा **(कषायभटसाधनः)** कषायरूप योद्धाओं की सेना से सहित **(मोहरूपो रिपुः)** मोहनीय कर्मरूपी शत्रु को **(दृष्टि सम्पदुपेक्षास्त्रैः)** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप शस्त्रों के द्वारा **(पराजितः)** पराजित किया है ।

मोहविजय के तन्त्र का दर्शन—हे धीर ! हे प्रभो ! आपने मोहरूपी शत्रु को सम्यग्दर्शन मूर्ति और उपेक्ष्यरूप अस्त्र के द्वारा पराजित किया, मायने मोहशत्रु का विध्वंस किया और पाप का भी विध्वंस किया । कैसा है पाप ? कषायभटसाधन, यह मोहरूपी शत्रु पाप है । वास्तविक पाप मोह है । कोई धर्म करे तो उसे यह समझना चाहिए

कि सबसे पहले तो मोह हटायें तब धर्म लगेगा और मोह बना रहे भीतर तो चाहे कितना ही धर्म के नाम पर कोई कुछ करे, पर उसे धर्म का बंध नहीं लगता । पापों का सिरताज है मोह, अज्ञान । परपदार्थ को मानना कि यह मेरा है और परपदार्थ से अपने को बड़ा महत्त्व मानना बस यह तो महान् अज्ञान है, यह पाप है । कोई पुरुष बाहरी पाप न करता हो और मोह बहाये रहता हो तो उसे निष्पाप न कह सकेंगे । महापाप तो मोह ही है । तो यह मोहरूपी शत्रु पापस्वरूप है और इसके कषायरूपी जो सुभट हैं वे साधन हैं । सो हे नाथ ! ऐसे महान् शत्रु को आपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूपी शस्त्रों के द्वारा पराजित कर दिया । इस छंद में यह बताया है कि मोह कैसे गलाया जाता है? एक तो सम्यग्दर्शन हो, सच्चा बोध हो, पदार्थ का वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो और उसके फल में फिर उससे उपेक्षा करे, यहाँ मेरा कुछ नहीं, मेरा तो मात्र मैं ज्ञानस्वरूप हूँ । इसके अतिरिक्त मेरा कहीं कुछ नहीं, ऐसी उपेक्षा करे तो वह मोहरूपी शत्रु को जीत सकता है । न सम्यग्दर्शन है, न उपेक्षा है तो उसके तो मोह लगेगा ही । और जिसके मोह है वह कभी सुखी नहीं है । घर में रहना पड़े, जंगल में रहना पड़े, संग में रहना पड़े, कोई भी परिस्थिति हो, अपना ज्ञान ऐसा सही रखना चाहिए कि मुझ आत्मा का सहारा केवल यह मैं आत्मा ही मात्र हूँ । दूसरा मेरे को सहारा नहीं है । इस तरह से सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्र के बल पर यह मोहरूपी शत्रु जीता जा सकता है ।

छन्द ९१

कंदर्पस्योद्धरो दर्पस्त्रैलोक्यविजयार्जितः ।

ह्रेपयामास तं धीरे त्वयि प्रतिहतोदयः ।।९१।।

अन्वयार्थ—(त्रैलोक्यविजयार्जितः) तीनों लोकों की विजय से उपार्जित (कंदर्पस्य) कामदेव के (उद्धरः) उत्कट-बहुत भारी (दर्पः) गर्व ने (धीरे) धीर वीर (त्वयि) आपके विषय में (प्रतिहतोदयः सन्) खण्डित प्रसर हो (तं) कामदेव को (ह्रेपयामाय) लज्जित किया था ।

प्रभुदर्शन से कन्दर्पदर्प का पतन—भगवान अरहनाथ की स्तुति में यह बात बतला रहे हैं कि ये प्रभु कामदेव भी थे । अरहनाथ प्रभु तीर्थंकर थे, चक्रवर्ती थे और कामदेव थे न । तो किन शब्दों में बतला रहे हैं कि हे प्रभु ! तुमने तीन लोक के विजय से उपार्जित किए हुए कामदेव का घमंड लज्जित कर दिया था अर्थात् कामदेव कोई चीज नहीं है । सुन्दरता का नाम है कामदेव । तो आपने जगतभर की सुन्दरता को लज्जित कर दिया था याने आपका रूप इतना मनोरम था कि उस समय में आपकी तरह का किसी का रूप न था । कैसे हैं ये कामदेव? काम नाम विकार का है कि जो आप में उदित न हो सका । तो हे अरहनाथ जिनेन्द्र ! आप धीर हो, ज्ञानमय हो, इस कारण आप में काम विकार का उदय न हो सका और आपने काम के मान को लज्जित कर दिया । भले ही तीनों लोकों पर विजय पाने से आप यश वाले बन रहे थे, क्योंकि जगत के प्राणी इस काम के बहुत वशीभूत हैं । तो सारा जगत काम ने वश कर लिया, इस कारण उसके बड़ा ही घमंड फैल रहा था, लेकिन

उसको हे अरहनाथ जिनेन्द्र ! आपने नष्ट कर दिया ।

छन्द ९२

आयत्यां च तदात्वे च दुःखयोनिर्दुरुत्तरा ।

तृष्णानदी त्वयोत्तीर्णा विद्यानावा विविक्तया ।।९२।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् **(आयत्यां च तदात्वे च)** जो परलोक तथा इस लोक—दोनों ही जगह **(दुःखयोनिः)** दुःखों को उत्पत्ति का कारण है तथा **(दुरुत्तरा)** जिसका पार करना अत्यन्त कठिन है ऐसी **(तृष्णा नदी)** तृष्णारूपी नदी **(त्वया)** आपने **(विविक्तया)** निर्दोष **(विद्यानावा)** विद्यासम्यग्ज्ञानरूपी नौका के द्वारा **(उत्तीर्णा)** पार की है ।

ज्ञाननौका से तृष्णानदी को पार करने के तंत्र के दर्शक का स्तवन—तृष्णारूपी नदी बड़ी भयंकर है । जगत् के जीव इस तृष्णा के कारण ही दुःखी हैं । जो आगे भी दुःख का बीज है और वर्तमान में भी दुःख का बीज है । जब समस्त पदार्थ अपने आपकी सत्ता से हैं, स्वतंत्र हैं, परिपूर्ण हैं, एक का दूसरे से संबंध नहीं है तो ऐसा यह जीव भी सबसे निराला केवल अपने स्वरूप में रहने वाला, अपनी परिणति से परिणमने वाला है । इसका दूसरा क्या हो सकता है? है तो कहीं कुछ नहीं, किन्तु तृष्णा यह भी हो, ऐसा भी हो, उसकी यह तृष्णारूपी नदी इस दुःख की जड़ है । इसकी वेदना बड़ी कठिन है । जगत् के प्राणी इसे तैरकर पार नहीं हो पाते । विरला ही जो पार हो गया सो भगवान । तो यह तृष्णारूपी नदी जो वर्तमान में भी दुःख का बीज है और भविष्य में भो दुःख का बीज है ऐसी नदी को हे अरह जिनेन्द्र ! आपने उत्तीर्ण किया । किसके द्वारा इस नदी को पार किया? तो विद्यारूपी नौका से, ज्ञानरूपी नौका से, जो रागद्वेष से रहित है, अन्य पदार्थ के लगाव से रहित है ऐसे ज्ञानरूपी नौका के द्वारा आपने इस तृष्णानदी को पार किया । इस छंद में अनेक नय बताये गए हैं । यह तृष्णा इस भव में भी दुःख का बीज है, परभव में भी दुःख का बीज है, इसका तैरना बड़ा कठिन है । ये तीन बातें तो तृष्णानदी की विशेषता में कही और आपने इस तृष्णानदी को पार किया, जिसका पार किया जाना कठिन था । काहे के द्वारा? विविक्त ज्ञानरूपी नौका के द्वारा याने विशुद्ध ज्ञान, जिस ज्ञान में उपाधि का सम्बंध नहीं? केवल ज्ञान ज्ञानमात्र । उस ज्ञान के द्वारा आपने तृष्णा को नष्ट किया । इससे शिक्षा यह मिलती है कि जितना दुःख है वह सब तृष्णा का है और तृष्णा दूर की जा सकती है इस भेद-विज्ञान से । मेरा मात्र मैं हूँ, मेरा बाहर कहीं कुछ नहीं, किसी पदार्थ का कुछ से कुछ परिणमन हो, वह उनकी बात है, मेरा परिणमन मेरे में है, ऐसा जब ज्ञान जगे तो तृष्णानदी पार की जा सकती है ।

छन्द ९३

अन्तकः क्रन्दको नृणां जन्मज्वरसखः सदा ।

त्वामन्तकान्तकं प्राप्य व्यावृत्तः कामकारतः ।।९३।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् **(जन्मज्वरसखः)** पुनर्जन्म तथा ज्वर आदि रोगों का मित्र और **(सदा)** हमेशा **(नृणां क्रन्दकः)** मनुष्यों को रुलाने वाला **(अन्तकः)** यम **(अन्तकान्तं)** यम का अन्त करने वाले **(त्वाम्)** आपको **(प्राप्य)**

प्राप्त कर **(कामकारत:)** अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्ति से **(व्यावृत:)** उपरत हुआ है ।

प्रभु की अन्तकान्तकता—अंतक: अर्थात् यमराज मृत्यु; यह इस प्राणी का क्रन्दन करने वाली है, रुलाने वाली है याने इससे ये प्राणी बड़े दु:खी हैं । कैसा है यह? अंतक: याने यमराज, जिसका जन्म और जन्मरूपी ज्वर मित्र है याने मरण का मित्र जन्म है । जन्म बिना मरण जीवित नहीं रह सकता, ऐसा इसका घना मित्र है, क्योंकि जन्म नहीं है तो मरण फिर कहा टिकेगा? तो मरण भी जन्म बिना नहीं टिक सकता, इस कारण अन्त तक जन्म-मरण का घनिष्ट मित्र है । तो जिसका जन्म घनिष्ट मित्र है ऐसा यह अंतक जगत के जीवों को रुला रहा है । सो हे प्रभु ! तुम हो अन्तकान्तक मायने अंतक का अंतक । मरण का मरण कराने वाले याने मरण का जिसने अंत किया है ऐसा प्रभु आपको पाकर यह मरण चुपचाप अपने आप यहाँ से लौट गया । जैसे किसी बलिष्ट को देखकर कोई शत्रु चुपके से लौट जाता है ऐसे ही यमराज भी आपको देखकर चुपके से लौट गया अर्थात् आप मरणरहित हैं । न आपका जन्म है न मरण है । जब मरण नहीं है तो जन्म-सखा भी कहां से रह सकता? ऐसे हे प्रभु ! आप जन्ममरण से रहित केवल एक विशुद्ध ज्ञानज्योतिस्वरूप शाश्वत अपने में विराजमान रहते हो ।

छन्द ९४

भूषावेषायुधत्यागि विद्यादमदयापरम् ।

रूपमेव तवाचष्टे धीर ! दोषविनिग्रहम् ।।९४।।

अन्वयार्थ—(धीर !) हे धीर ! अरजिनेन्द्र ! **(भूषावेषायुधत्यागि)** आभूषणों, वेषों तथा शस्त्र का त्याग करने वाला तथा **(विद्यादमदयापरम्)** ज्ञान, इन्द्रिय, दमन और दया में तत्पर **(तव)** आपका **(रूपमेव)** रूप ही **(दोषविनिग्रहं)** रागादि दोषों के अभाव को **(आचष्टे)** कहता है ।

प्रभुरूप में विद्या, इन्द्रियदम व दयापरता का दर्शन—हे नाथ ! आपका रूप ही इतनी बातों को बता रहा है, क्या-क्या हैं वे बातें, जिनको आपकी मुद्रा **(शक्ल)** बता रही है? आपकी मुद्रा ज्ञान, दमन और दया— ये तीन बातें बता रही हैं, आप इन तीनों बातों में तत्पर हैं । आपकी मुद्रा है— वेशभूषा और हथियार का त्याग है । हथियार का त्याग है उससे ही यह प्रकट हो रहा कि आप दया के सिंधु हैं । जो क्रूर होगा वह कुछ न कुछ हथियार लिये रहेगा, पर आप दया की मूर्ति हैं । आपको हथियार से क्या प्रयोजन? और आपके वेशभूषा नहीं है । यह बात बतला रही है कि आप इन्द्रियदमन में तत्पर हैं, ज्ञान के भण्डार हैं और इन्द्रियदमन में कुशल हैं, क्योंकि जिसके इंद्रियदमन नहीं वह शरीर से अवश्य कुछ लगाव रखता है और शरीर के लगाव की धुन में कोई न कोई प्रकार का एक भूषण या श्रृङ्गार या सफाई यह शरीर पर रखता है । तो भेष और आयुध से रहित की मुद्रा यह बतला रही है कि आप ज्ञान, इन्द्रियदमन और दया में तत्पर हैं तथा हे धीर ! आपकी मुद्रा यह बतला रही है कि यही दोषों को विनिग्रह किया है अर्थात् यथाजातरूप ज्ञान, ज्ञान में ही उपयुक्त हो रहा । ज्ञान ज्ञानस्वरूप को सम्हालता हुआ विचित्र अलौकिक आनन्द पा रहा, ऐसा आपका परम शान्त रूप इन सब गुणों को दर्शा रहा हैं ।

छन्द ९५

समन्ततोऽङ्गभासां ते परिवेषेण भूयसा ।

तमो बाह्यमपाकीर्णमध्यात्मध्यानतेजसा ।।९५।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! **(समन्ततः)** सब ओर फैलने वाले **(ते)** आपके **(अङ्गभासां)** शरीर संबंधी प्रभाओं के **(भूयसा)** विशाल **(परिवेषेण)** मण्डल के द्वारा **(बाह्यं)** बाह्य **(तमः)** अन्धकार **(अपाकीर्णं)** नष्ट हुआ है और **(ध्यानतेजसा)** ध्यानरूप तेज के द्वारा **(अध्यात्मं)** ज्ञानावरणादि कर्मरूप अन्तरङ्ग का अन्धकार **(अपाकीर्णं)** नष्ट हुआ है ।

प्रभु की ज्योतिर्मयता—हे प्रभु ! आपके शरीर की जो आभा है, भामण्डल जो चारों तरफ से भा है उसके जो चार देश हुए गोलाकार एक महान उसके द्वारा तो आपने बाहर के अंधकार को दूर किया और आध्यात्मिक अंधकार को ध्यानरूपी तेज के द्वारा दूर किया याने बहिरङ्ग और अन्तर, दोनों प्रकार के अन्धकार को आपने नष्ट कर दिया । कैसे नष्ट हुआ बाहरी अंधकार? तो आपके शरीर की जो आभा है, उसका जो एक मंडल है उसके द्वारा बाह्य अंधकार दूर हुआ और आध्यात्मिक अंधकार अध्यात्मध्यानरूपी तेज के द्वारा दूर हुआ याने प्रभु भीतर में ज्ञानज्योति के पुंज थे और बाहर में शरीरे की ऐसी आभा थी कि जिससे बाहरी अंधकार दूर हुआ । इस तरह आप अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के अंधकार के नष्ट करने वाले हो ।

छन्द ९६

सर्वज्ञज्योतिषोद्भूतस्तावक को महिमोदयः ।

कं न कुर्यात् प्रणम्रं ते सत्त्वं नाथ सचेतनम् ।।९६।।

अन्वयार्थ—(नाथ) हे अरनाथ जिनेन्द्र ! **(सर्वज्ञज्योतिषा)** समस्त पदार्थों को जानने वाली केवलज्ञानरूपी ज्योति से **(उद्भूतः)** उत्पन्न हुआ **(तावकः)** आपकी **(महिमोदयः)** महिमा का उत्कर्ष **(कं)** किस **(अचेतनं)** गुणदोष के विचार में चतुर **(सत्वं)** प्राणी को **(प्रणम्रं)** नम्रीभूत **(न कुर्यात्)** नहीं कर देता है ?—सबको कर देता है ।

प्रभु का महिमोदय—हे प्रभु ! आपकी महिमा का बहुत बड़ा उदय है । कैसे प्रकट हुआ? सर्वज्ञ की ज्योतिषों के द्वारा याने आपने केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को जाना, इतना विशुद्ध आपका ज्ञान है । उस ज्ञान की महिमा का ऐसा उदय है कि किस बुद्धिमान को, किस सचेतन को, किस जानकार को नम्रीभूत न कर दे ? कोई पत्थर हो, अचेतन हो वही तो नम्र न हो सकेगा । क्योंकि सचेतन है, बुद्धि रखता है, वे सब आपके चरणों में नम्र हो जाते हैं, क्योंकि आपकी महिमा का ऐसा ही उदय है । किसकी महिमा है? वह सर्वज्ञ जो केवलज्ञानी हुए, जो विशुद्ध हैं, रागद्वेषरूप मलीनता से रहित हैं उस ज्ञानवैभव के कारण सभी जीव आपके चरणों

में नम्रीभूत हो जाते हैं याने भगवान किसका नाम है यह बात इस छंद में बतायी है । भगवान नाम है विशुद्ध ज्ञान का; जहाँ रागद्वेष नहीं, मलीनता नहीं, केवल ज्ञानप्रकाश मात्र है उस ज्ञानज्योति का नाम भगवान है, सो जिसकी नजर में प्रभु का यह स्वरूप आया उस स्वरूप की ओर झुकता ही रहेगा, ऐसी आपकी महिमा के उदय से समस्त सचेतनों ने, बुद्धिमानों ने, दिल वालों ने प्रणम्य कर दिया ।

छन्द ९७

तव वागमृतं श्रीमत्सर्वभाषास्वभावकम् ।

प्रीणयत्यमृतं यद्वत् प्राणिनो व्यापि संसदि ।।९७।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! **(श्रीमत्)** पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करनेरूप लक्ष्मी सहित **(सर्वभाषास्वभावकम्)** समस्त भाषाओंरूप परिणमन करने वाले स्वभाव से युक्त तथा **(संसदि)** समवसरण सभा में **(व्यापि)** व्याप्त होने वाला **(तव)** आपका **(वागमतं)** वचन रूप अमृत **(अमृतं यद्वत्)** अमृत के समान **(प्राणिनः)** प्राणियों को **(प्रीणयति)** संतुष्ट करता है ।

प्रभुवचनामृत की तृप्तिकारिता—हे प्रभु ! आपका वचनरूप अमृत जो समस्त भाषा का स्वभाव रखता है वह प्राणियों को अमृत की तरह प्रीति उत्पन्न करता है । जैसे लोग अमृत का पान करते हैं, इसी प्रकार आपकी वाणी सुनकर लोगों ने एक अद्भुत अलौकिक अमृत का पान किया । दिव्यध्वनि खिरी थी समवशरण में । सो उस समवशरण में प्राणियों ने आपके वचनामृत का पान किया । क्यों हैं वे वचन अमृत ? क्योंकि वहाँ वस्तु का सही स्वरूप बताया गया । और जीव का उद्धार होगा तो सही स्वरूप के ज्ञान से ही होगा, अज्ञान द्वारा उद्धार नहीं हो सकता । ज्ञान ही उद्धार कर सकता है । तो वह ज्ञान आपकी वाणी में है । उसे जो सुनता है वह अमृत की तरह मानो उसका फल प्राप्त करता है । जीव सभी अमर हैं । कोई मरता नहीं, स्वरूप अमर है । कभी मरण नहीं होता, उसे जिसने ज्ञान में पाया वह अमर बन गया । अमर तो था ही । अमर न मान कर जीव दु:खी था । अब जैसा अमर स्वरूप है वैसा ज्ञान में आया तो इसके सारे संकट दूर हो गए । तो आपका वचनामृत अमृत की तरह लोगों को सुख देता है, आनन्द देता है ।

छन्द ९८

अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः ।

ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः ।।९८।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् **(ते)** आपकी **(अनेकान्तात्मदृष्टिः)** अनेकान्तरूप दृष्टि **(सती)** सत्यार्थ है उससे **(विपर्ययः)** विपरीत एकान्तमत **(शून्यः)** शून्यरूप असत् है **(ततः)** इसलिये **(तदयुक्तं)** उस अनेकान्तदृष्टि से रहित **(सर्वं)** सब **(उक्तं)** कथन **(स्वघाततः)** स्वघातक होने से **(मृषा)** मिथ्यारूप है । अथवा **(ततः)** एकान्तमत के आश्रय से **(उक्तं)** कहा हुआ **(सर्वं)** समस्त वस्तुस्वरूप **(मृषा)** असत्य है तथा **(स्वघाततः)** स्व घातक होने से **(तद्)** वह **(अयुक्तं)** अनुचित है ।

प्रभु की अनेकान्तमयी सती विभूति—आपकी अनेकान्तात्मक दृष्टि यही एक सती है, सही है । समस्त पदार्थ अनेकान्तात्मक हैं । तो ऐसा स्वरूप जो बताया, ऐसी दृष्टि जो करायी वह तो पवित्र ही है और अनेकान्तात्मकदृष्टि से रहित हो तो वह विपरीत है । वह मृषा भी है, क्योंकि वह अपना ही घात करती है याने जो पुरुष एकान्त की बात में आग्रह करते हैं उससे उनका ही घात है, उन्हें मोक्षमार्ग नहीं मिलता । जैसे जो मानते हैं कि जीव नित्य अपरिणामी है तो जब आत्मा में कुछ नहीं बनता । जो लोग मानते हैं कि आत्मा अनित्य है, निरन्तर नया-नया उत्पन्न होता है तो उन्हें क्या फिक्र पड़ी? तप करे कोई, मोक्ष पाये कोई । ऐसा कौन करेगा? तो जो आपकी दृष्टि से बहिर्मुख है, जो किसी एकान्त का आग्रही हो गया है वह मृषा है, झूठ है, क्योंकि उससे उसका ही घात होता है । इस जीव की रक्षा करने वाली दृष्टि अनेकान्तदृष्टि है । सो सिद्धान्त आपका प्रकट हुआ, इसलिए आप सर्व जीवों के हित के करने वाले हो ।

छन्द ९९

ये परस्खलितोन्निद्राः स्वदोषेभनिमीलिनः ।

तपस्विनस्ते किं कुर्युरपात्रं त्वन्मतश्रियः ।।९९।।

अन्वयार्थ—(ये) जो एकान्तवादी **(परस्खलितोन्निद्राः)** पर-अनेकान्तमत में स्खलितविरोध आदि दोषों के देखने में उन्निद्र-जागृत रहते हैं और **(स्वदोषेभनिमीलिनः)** स्व-अपने सदेकान्त आदि एकान्त में दोष—स्वघातत्व आदि दोषों के विषय में इभनिमीलन—गज-निमीलन से युक्त हैं अर्थात् उन्हें देखते हुए भी नहीं देखते हैं **(ते)** वे **(तपस्विनः)** बेचारे **(किं कुर्युः)** क्या करें-स्वपक्ष सिद्धि और पक्ष के निराकरण में वे असमर्थ हैं तथा **(त्वन्मतश्रियः)** आपके मतरूपी लक्ष्मी के **(अपात्रं)** अपात्र हैं ।

मुग्ध तपस्वी जनों में प्रभुदर्शनलक्ष्मीलाभ की अपात्रता—जो परपदार्थों के लगाव से अपने स्वरूप से स्खलित हो गए हैं और अपने दोषसमूह को निरखने में आखें मींच गए ऐसे तपस्वी जन आपके मतरूपीलक्ष्मी के अपात्र हैं याने ये तपस्वी, वे संन्यासी जो अपने स्वरूप से स्खलित हैं और अपने दोषों को देख नहीं पाते हैं वे आपके मतरूपी लक्ष्मी के अपात्र हैं । उनकी दृष्टि में यह अनेकान्त शासन आ नहीं पाया है तो अपात्र हैं । इसका अर्थ है कि उनका कल्याण नहीं बनता । जो आपकी सत्‌लक्ष्मी का सत्कार करेंगे वे ही पुरुष संसार से पार होते हैं । तो जो आपके स्याद्वाद के सिद्धान्त से बहिर्भूत हैं वे मोक्षमार्ग के पात्र नहीं हो पाते ।

छन्द १००

ते तं स्वघातिनं दोषं शमीकर्तुमनीश्वराः ।

त्वद्द्विषः स्वहनो बालास्तत्त्वावक्तव्यतांश्रिताः ।।१००।।

अन्वयार्थ—(ते) वे एकान्तवादी **(तं)** उस पूर्वोक्त **(स्वघातिनं)** स्वघाती दोष को **(शमीकर्तुं)** शमन करने के लिये **(अनीश्वराः)** असमर्थ हैं, **(त्वद्द्विषः)** आप-अनेकान्तवादी से दोष रखते हैं, **(स्वहनः)** अपने आपका घात करने वाले हैं, **(बालाः)** यथावद्वस्तुस्वरूप से अनभिज्ञ है और इसीलिये **(तत्त्वावक्तव्यतां श्रिताः)** तत्त्व की

अवक्तव्यता का आश्रय लेते हैं ।

प्रभुदर्शनद्वेषियों की स्वघातिता—जो सम्यग्ज्ञान नहीं पाते और एकान्त का आग्रह रखते हैं वे अपना ही घात करने वाले हैं । सो अपना ही घात करने वाले दोषों का शमन करने में समर्थ नहीं हैं । हे प्रभु ! जो आपके मत से विद्वेष रखते हैं थे अपने आपका हनन करने वाले अज्ञानी जन हैं । जो पुरुष स्याद्वाद से विरोध रखते हैं वे तत्त्व को कह ही नहीं सकते । अथवा कहते-कहते ऐसे भूल के मार्ग पर पहुंच जातें हैं कि तत्त्व अवक्तव्य है या तत्त्व नहीं है, शून्य है आदिक धारणायें बना लेते हैं । इस जीव का कल्याण है किस तरह कि रागद्वेष मोह मिटे और आत्मा के स्वरूप में ज्ञान का निवास रहे, यह बात सम्यग्ज्ञान होने पर ही बनती है, मिथ्याज्ञान में नहीं बन सकती, क्योंकि उपयोग अपने आपके ज्ञानस्वभाव में टिके तो वह ही उपयोग टिक सकता है जो परम है, शुद्ध है, सही है । तो जो पुरुष अनेकान्त से द्वेष रखते हैं वे अपना ही घात करते हैं ।

छन्द १०१

सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः ।

सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीहि ते ।।१०१।।

अन्वयार्थ—(सदेकनित्यवक्तव्याः) सद्, एक, नित्य, वक्तव्य **(च)** और **(तद्विपक्षाः)** इनसे विपरित असत्, अनेक, अनित्य, अवक्तव्य **(ये नयाः)** ये जो नय हैं **(ते)** वे **(इह)** इस जगत् में **(सर्वथा इति)** सर्वथारूप से **(प्रदुष्यन्ति)** वस्तुतत्त्व को अत्यधिक विकृत करते हैं—सदोष बनाते हैं और **(स्यात् इति)** स्यात् कथंचित्रूप से वस्तुतत्त्व को **(पुष्यन्ति)** पुष्ट करते हैं ।

सर्वथावाद व स्वाहा के दोष व गुण का निर्देश—वस्तु के जानने के लिए जितने धर्म हैं, जैसे वस्तु सत् है, वस्तु एक है, वस्तु नित्य हैं, वस्तु वक्तव्य है अथवा उनसे उल्टा कह लीजिए । वस्तु असत् है, अनेक है, अनित्य है, अवक्तव्य है । तो इन सब बातों को कहने वाला जो नय है तो उनमें अगर सर्वथा शब्द जुड़ा हो, उनका आशय सर्वथा मानने का ही तो दोष है, और स्यात् शब्द लगा है याने अपेक्षा-दृष्टि से कहा जा रहा हो तो वह आत्मा का पोषण करता है । जैसे कोई कहे कि आत्मा अनित्य है, सर्वथा अनित्य है, हर प्रकार अनित्य है । क्षण-क्षण में दूसरा-दूसरा आता है तो अब इसमें आत्मा का पोषण क्या रहा? कहां आत्मा जायेगा? पाप कोई करे, फल कोई पायेगा, तपश्चरण कोई करे, मोक्ष कोई पायेगा । क्योंकि आत्मा तो नया-नया बदलता है । जो करे सो ही तो आगे फल में नहीं है तो वहाँ दोष है । कोई कहे कि आत्मा तो दिव्य अपरिणामी है, उसमें तो कुछ बदल भी नहीं होती । तो बदल नहीं होती, संसार किसका? फिर मोक्ष किसको कराये? इसी तरह सभी प्रकार के धर्म यदि सर्वथा आग्रहरूप में हों, हठवाद हों तो उसमें दोष है और यदि अपेक्षादृष्टि से सहित हों तो उससे आत्मा का पोषण है । तो हे प्रभु ! आपका सिद्धान्त स्यात् शब्द से सहित दर्शन को बताता है, इसलिए

आपका बताया हुआ उपदेश मोक्षमार्ग है, वह जीव का भला करने वाला है ।

छन्द १०२

सर्वथा नियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षकः ।

स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ।।१०२।।

अन्वयार्थ—(सर्वथानियमत्यागी) सर्वथारूप नियम का त्याग करने वाला तथा **(यथादृष्टमपेक्षकः)** यथादृष्टप्रमाणसिद्ध वस्तुस्वरूप की अपेक्षा रखने वाला **(स्याच्छन्दः)** स्यात् शब्द **(तावके न्याये)** आपके न्याय में है **(आत्मविद्विषाम्)** अपने आपके बैरी **(अन्येषां)** अन्य एकान्त वादियों के नाम में **(न)** नहीं है ।

आत्मविद्वेषियों में स्वाद्वादन्याय की अपात्रता—हे प्रभु ! आपके सिद्धान्त में, सर्वथा के नियम का त्याग है याने वस्तु का अपेक्षा से वर्णन होता है और वहाँ वस्तु अवक्तव्य है, फिर भी वर्णन अगर किया जायेगा तो अपेक्षा से किया जायेगा । सर्वथा कोई धर्म नहीं होता । जैसे नेत्र का ही वर्णन करे कोई तो किसीने कहा कि ये तीन फिट के हैं, किसी ने कहा कि ये डेढ़ फिट के हैं, किसी ने कहा हरी है तो क्या वे सब गलत हैं? उनकी अपेक्षा जुदे-जुदे हैं, इस कारण गलत कोई नहीं है, और वह हठ कर जाये कि नहीं, डेढ़ फिट की नहीं, हरी नहीं वह तो तीन फिट लम्बी ही है, तो हठ में गलत हो गया । वस्तु का स्वरूप अपेक्षा से सिद्ध होता है । तो यह आपके सिद्धान्त में जो स्यात् शब्द है वह शब्द किसी की अपेक्षा रखता है और सर्वथा नियम का त्याग होता है । तो ऐसा आपके ही सिद्धान्त में है । अन्य जो आत्मा के द्वेषी हैं उनके सिद्धान्त में अपेक्षा का महत्त्व नहीं है । जो वस्तु के स्वरूप को अपेक्षादृष्टि से नहीं निरखता वह आत्मा का द्वेषी है और उसे आत्मा की सिद्धि भी नहीं होती ।

छन्द १०३

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः ।

अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्ताऽर्पितान्नयात् ।।१०३।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! **(ते)** आपके मत में **(अनेकान्तोऽपि)** अनेकान्त भी **(प्रमाणनय साधनः)** प्रमाण और नय रूप साधनों से युक्त होने के कारण **(अनेकान्तः)** अनेकान्त-स्वरूप है । **(प्रमाणात्)** प्रमाण की अपेक्षा **(अनेकान्तः)** अनेकान्त-स्वरूप है और **(अर्पितात् नयात्)** विवक्षित नय से **(तदेकान्तः)** अनेकान्त में एकान्त-स्वरूप है ।

अनेकान्त की अनेकान्तमयता—प्रभु का सिद्धान्त है अनेकान्त । जो अनेकान्त का ज्ञान करे उसे भी अनेकान्त कहते और वस्तु को अनेकान्त कहते । अनेकान्त का अर्थ है—अनेक धर्म वाली चीज । कोई भी वस्तु हो उसमें अनेक धर्म हैं, अनेक स्वभाव हैं, जैसे पुद्गल है; कैसा उसमें रस है, कैसी गंध है, कैसा आकार है ? तो अनेक बातें हैं ना? आत्मा है, उसमें क्या गुण है, कैसी पर्याय है, क्या स्वभाव है, अनेक बातें हैं । तो अनेक धर्म वाला है पदार्थ, इसलिए पदार्थ को अनेकान्त कहते हैं । और इस अनेकान्त को बताने वाला ज्ञान भी

अनेकान्त है । सो अनेकान्त भी अनेकान्तरूप है, क्योंकि एक-एक धर्म से बना है अनेकान्त, तो अपेक्षादृष्टियों से एकान्त भी तो पड़ा हुआ है, सो अनेकान्त एकान्तरूप भी है, अनेकान्तरूप भी है याने अनेक एकान्त दृष्टियों का समुदाय है अनेकान्त और ऐसा अनेकान्त ही प्रमाण और नय का साधक होता है । सो हे प्रभु ! आपके सिद्धान्त में प्रमाण से अनेकान्त सिद्ध है और वह है एकान्त की विवक्षा रखने वाले नयों से । बस सर्वथा न होना चाहिए । दृष्टियों से वर्णन होना चाहिए । जैसे आत्मा द्रव्यदृष्टि से नित्य है, पर्यायदृष्टि से अनित्य है । अवस्था की दृष्टि से अनेक रूप है और वही का वही सदा रहता है । इसलिए एक रूप है । अपने आपकी ओर से सत् है, अन्य की ओर से असत् है, ऐसी वस्तु में अनेक धर्मात्मकपने की सिद्धि होती है । और ऐसे यथार्थ ज्ञान को जो करे सो ही शान्ति का मार्ग पा सकता है ।

(अपरवक्त्रछन्द)

छन्द १०४

इति निरुपमयुक्तिशासनः प्रियहितयोगगुणानुशासनः ।
अरजिन ! दमतीर्थनायकस्त्वमिव सतां प्रतिबोधनाय कः ।।१०४।।

अन्वयार्थ—(इति) इस तरह **(अर जिन)** हे अर जिनेन्द्र ! आप **(निरुपमयुक्तिशासनः)** उपमा-रहित प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सहित हैं, **(प्रियहितयोगगुणानुशासनः)** सुखदायक तथा फलकाल में हितकारक मन, वचन, काय के प्रशस्त व्यापाररूप योग और सम्यग्दर्शनादि गुणों का उपदेश देने वाले हैं तथा **(दमतीर्थनायकः)** इन्द्रियविजय को सूचित करने वाले आगम के नायक हैं । हे नाथ ! **(त्वमिव)** आपके समान **(सतां प्रतिबोधनाय)** विद्वज्जनों को प्रतिबोध देने के लिये **(अन्यः कः)** दूसरा कौन है ? कोई नहीं है ।

प्रभु की प्रतिबोधनायकता—हे अरहनाथ जिनेन्द्र ! आपका शासन उपमारहित युक्तियों से सिद्ध है और प्रिय, हित इन दोनों का योग है ऐसा गुणभरा हुआ शासन है याने प्रिय भी है, हित भी है । अब यों तो जिनको आत्मकल्याण की वाञ्छा है ही नहीं उनको तो न प्रिय लगेगा, क्योंकि इसमें संयम तपश्चरण आदिक सब कुछ की बात लगी हुई है । ऐसे तो शिकारी भी अगर किसी साधु को देख ले तो वे कहते हैं कि असगुन हुआ, लेकिन जिनको आत्महित की वाञ्छा है उनको प्रिय है और हितकारी है । छोटी-छोटी बातें, जैसे रात्रि को न खाना कोई कठिन बात नहीं है । पाप का उदय आने पर दिन में भी नहीं मिलता, रात्रि में भी नहीं मिलता, अनेक पाप पड़े हैं, पर कुछ स्वच्छन्दता है कि जरा-जरासी बात पर भी अमल न कर पायेंगे । तो जहा पर कल्याण की वाञ्छा नहीं है वहा सब चीजें कठिन लगती हैं और जहा आत्महित की वाञ्छा है वहा जैनशासन की सब बातें प्रिय और हितरूप लगेंगी । तो हे प्रभो ! आपका शासन प्रिय और हित दोनों का संयोगरूप है । हे प्रभो ! आप इन्द्रियदमनरूप जो तीर्थ है उसके नायक हो । आपके उपदेश में मुख्यता यह है कि इन्द्रिय का दमन करें याने इन्द्रिय के विषयों में आसक्त न हों । इसलिए सम्यग्ज्ञान सिखाया जाता और इसीलिए तपश्चरण आदिक किए जाते । यह एक साधुओं का मूल गुण माना गया है कि इन्द्रिय में आसक्त न होना । ऐसी जिसकी मुख्यता है ऐसे तीर्थ के हे प्रभु ! आप नायक हो । सो आप किसकी तरह हो ? प्रभु यह नहीं बताया जा सकता

। आप आपकी ही तरह हो जो भव्य जीवों को प्रतिबोध देने के लिए आप नायक हो । इस छंद में यह बताया कि भगवान जिनेन्द्र का शासन युक्तसिद्ध है, प्रिय है, हित है और उसमें इन्द्रिय विषयों से वैराग्य की शिक्षा भरी हुई है । ऐसा ही शासन जीवों का हित कर सकता है ।

छन्द १०५

मतिगुणविभानुरूपतस्त्वयि वरदागमदृष्टिरूपत: ॥

गुणकृशमपि किञ्चिजोदितं मम भवताद्दुरितासनोदितम् ।।१०५।।

अन्वयार्थ—(हे वरद) हे वर को प्रदान करने वाले अर: जिनेन्द्र ! मैंने **(सतिगुणविभानुरूपत:)** अपनी बुद्धि के गुणों की सामर्थ्य के अनुरूप तथा आगम से प्राप्त हुई दृष्टि के अनुसार **(त्वयि)** आपके विषय में **(गुणकृशमपि)** आपके गुणों का जो कुछ थोड़ा-सा **(उदितं)** वर्णन किया है वह वर्णन **(मम)** मेरे **(दुरितासनोदितम्)** पापों के नष्ट करने में समर्थ **(भवतात्)** होवे ।

प्रभु के गुणलवचिन्तन से भी प्रायप्रलय का प्रारंभ—हे प्रभु ! जितनी मुझमें बुद्धि है उस बुद्धि-वैभव के अनुरूप आपमें थोड़ा स्तवन को मैं प्रवृत्त हुआ हूं, सो जो आगम है वह तो वरद है याने इष्ट फल को देने वाला है उससे ही इस दृष्टि के रूप से आपके कुछ गुणों का वर्णन किया, सो मेरे द्वारा हुआ प्रयास मेरे पापों का विनाश करे अर्थात् आपका स्तवन करके मैं अन्य कुछ नहीं चाहता, न मुझे लौकिक सम्पदा की चाह है, किन्तु मेरे पापों का विनाश हो । पाप क्या है ? मुख्य पाप तो अज्ञान है । जिनको अपने आत्मा के स्वरूप की दृष्टि नहीं मिल पायी और बाह्य तपश्चरण करते हुए दिख रहे हैं, जिनका कोई यथार्थ निर्णय नहीं हो पाया वे तो एक मझधार नदी में पड़े हुए हैं, और जिनको यथार्थ ज्ञान हो गया है वे कैसी ही स्थिति में हों तो वे भी स्वरक्षित हैं । सो ऐसा आपका सिद्धान्त न्यायदृष्टि से कुछ कहकर मैं यही चाहता हूं कि इस गुणस्तवन के प्रसाद से मेरे सर्व पापों का विनाश हो । अज्ञान, विषयों में आसक्ति, रागद्वेष मोह— ये ही सब पाप कहलाते । इन पापों का लेश भी मेरे आत्मा में न रहे ।

अब मल्लिनाथ जिनेन्द्र का स्तवन करते हैं—

(१९) श्री मल्लिनाथजिनस्तवनम्)

(सान्द्रपदं श्रीर्वानवासिका वा छन्द)

छन्द १०६

यस्य महर्षे सकलपदार्थप्रत्यवबोध: समजनि साक्षात्

सामरमर्त्यं जगदपि सर्वं प्राञ्जलि भूत्वा प्रणिपतित स्म ।।१०६।।

अन्वयार्थ—(यस्य महर्षे:) जिन महर्षि के **(सकलपदार्थप्रत्यवबोध:)** जीवादि समस्त पदार्थों को सब ओर से

अशेषविशेषता के साथ जानने वाला केवलज्ञान **(साक्षात्)** स्पष्ट रूप से **(समजनि)** उत्पन्न हुआ और इसलिये जिन्हें **(सामरमर्त्यं)** देवों तथा मनुष्यों से सहित **(सर्वमपि जगत्)** सभी संसार ने **(प्राञ्जलि भूत्वा)** बद्धाञ्जलि होकर **(प्रणिपतित स्म)** प्रणाम किया । उन मल्लिजिन की शरण को प्राप्त हुआ हूं ।

प्रभु के ज्ञान की महिमा—मल्लिनाथ भगवान के स्तवन में समंतभद्राचार्य कहते हैं कि जिस महर्षि का ज्ञान समस्त पदार्थों का यथार्थ प्रकाश करने वाला हुआ उस महर्षि के प्रति देव, मनुष्य आदिक सहित संसार विनम्र होकर उनके चरणों में नमस्कार करता भया । प्रभु के क्यों देव, इन्द्र, मनुष्य सब भक्त हैं? इसका कारण यह है कि सभी जीव सुख-शान्ति चाहते हैं और सुख-शान्ति का मार्ग मिलता है प्रभु की मुद्रा में, प्रभु के उपदेश में, प्रभु जिस मार्ग से चले उस मार्ग से चलने की भावना में । ये सब बातें प्रभु को उपासना में प्रकट होती हैं, इसी कारण सभी जीव प्रभु के चरणों में भक्त होकर सेवा करते गये । यह सब माहात्म्य है प्रभु के ज्ञानविकास का, विशुद्ध ज्ञानविकास का । रागद्वेष, इष्ट-अनिष्ट बुद्धि से रहित एक विशुद्ध ज्ञानप्रकाश उत्पन्न हुआ है, वे स्वयं आनन्दमय हैं । तो जो विशुद्ध आनन्दमय है उसकी उपासना से वह आनन्द की झलक मिलेगी और ऐसा शासन प्राप्त होगा कि जिस शासन से चलकर आनन्द मिल सकता है । तो प्रभु के ज्ञान की महिमा है जो सारा संसार उनके चरणों का दास हो गया ।

छन्द १०७

यस्य च मूर्तिः कनकमयीव स्वस्फुरदाभाकृतपरिवेषा ।

वागपि तत्त्वं कथयितुकामा स्यात्पदपूर्वा रमयति साधून् ।।१०७।।

अन्वयार्थ—(कनकमयीव) सुवर्ण से निर्मित के समान **(स्वस्फुरदाभाकृतपरिवेषा)** अपनी देदीप्यमान आभा से समस्त शरीर में व्याप्त भामण्डल को करने वाली **(यस्य मूर्तिः)** जिनकी मूर्ति—शरीराकृति **(च)** और **(तत्त्वं कथयितुकामा)** वस्तुस्वरूप को प्रकाशित करने की इच्छुक एवं **(स्यात्पदपूर्वा)** स्यात्पद से सहित **(यस्य)** जिनको **(वागपि)** वाणी भी **(साधून्)** भव्य जीवों को **(रमयति)** प्रसन्न करती है । उन मल्लिजिन की शरण को प्राप्त हुआ हूं ।

प्रभु की मूर्ति व वाणी की रमणीयता—जिनकी मूर्ति स्वर्णमयी है, मल्लिनाथ जिनेन्द्र के शरीर का वर्ण स्वर्णमय था, तो जिनकी मूर्ति स्वर्ण की तरह अपने में स्फुरायमान् जो कान्ति है, उससे जो उनका भामण्डल बना ऐसी कान्तिमान जिनकी मूर्ति है, और जिनके वचन कैसे हैं कि जो पदार्थ को कान्तिमान करते हुए स्यात्पदपूर्वक चलते हैं और साधुपुरुषों सज्जनपुरुषों को उसमें रमण कराते हैं । साधु संत बन, आत्महित चाहने वाले ज्ञानी पुरुष कहां रमण करते हैं? ज्ञान की बातों में । ज्ञान के उत्कृष्ट-उत्कृष्ट रहस्य मिलते जायें वहा साधुवों का, ज्ञानियों का मन रमता है । ज्ञानी पुरुषों का मन संसार की इन विनाशीक बातों में नहीं रमता, किन्तु ज्ञानप्रकाश में ही उनका मन रमता । सो उस ज्ञानप्रकाश का साधन है, प्रभु ! आपकी वाणी, दिव्यध्वनि । तो इस वाणी ने साधुवों को आत्मरमण कराया और उनके आनन्द के पहले पापविनाश करने में कारण हुई ।

छन्द १०८

यस्य पुरस्ताद्विगलितमाना न प्रतितीर्थ्या भुवि विवदन्ते ।

भूरपि रम्या प्रतिपदमासीज्ञातविकोशाम्बुजमृदुहासा ।।१०८।।

अन्वयार्थ—(यस्य) जिनके **(पुरस्तात्)** आगे **(विगलितमाना:)** गलितमान हुए **(प्रतितीर्थ्या:)** एकान्तीवादी जन **(भुवि)** पृथ्वी पर **(न विवदन्ते)** विवाद नहीं करते थे और जिनके विहार के समय **(भूरपि)** पृथ्वी भी **(प्रतिपदं)** डग-डग पर **(जातविकोशाम्बुजमृदुहासा)** विकसित कमलों से कोमल हास को धारण करती हुई **(रम्या)** मनोहर **(आसीत्)** हुई थी उन मल्लिजिन की शरण को प्राप्त हुआ हूं ।

प्रभुधाम की रम्यता—जो विवाद करने वाले लोग हैं, जैनशासन से विद्वेष करने वाले हैं वे जिनके सामने मानरहित होकर ऐसे शान्त हो गए कि अब विवाद नहीं कर सकते । कोई पुरुष विवाद की इच्छा करके भी जाये प्रभु के पास तो उनके दर्शन करते ही विवाद करने के सारे विकल्प नष्ट हो जाते हैं । भक्ति से उसका हृदय नम जाता है और विवाद की जगह अनुराग प्रकट हो जाता है । तो जो प्रतिवादी जन हैं वे हे मल्लिनाथ जिनेन्द्र ! आपके सामने मानरहित हो जाते और फिर वे कुछ विवाद नहीं कर पाते । आपके सत्संग से यह सारी पृथ्वी रमणीक हुई । पृथ्वी रमणीक के मायने हैं कि सब लोग सुखी हो गए । सुख में पृथ्वी रमणीक कहलाती है । तो जहा आप राजते हैं वहाँ सब सुखी रहते हैं, वहाँ विप्लव, विद्रोह आदिक नहीं हो सकते । तो यह सारी पृथ्वी रमणीक हो गयी । और मानो एक मृदु हास्य करती हुई पृथ्वी हो, कमल फूल रहे हैं, षट् ऋतु के फल फल रहे हैं, मनुष्यों के हृदय प्रफुल्लित हैं, तो सारी पृथ्वी वही प्रसन्न और रमणीक है ।

छन्द १०९

यस्य समन्ताज्जिनशिशिरांशोः शिष्यकसाधुग्रहविभवोऽभूत् ।

तीर्थमपि स्व जननसमुद्रत्रासितसत्त्वोत्तरणपथोऽग्रम् ।।१०९।।

अन्वयार्थ—(यस्य जिनशिशिरांशो:) जिन मल्लि जिनेन्द्ररूपी चन्द्रमा के **(समन्तात्)** चारों ओर **(शिष्यकसाधुग्रहविभव:)** शिष्य साधुरूप ग्रहों का—ताराओं का विभव **(अभूत्)** विद्यमान था और जिनका **(स्वं)** अपना **(तीर्थमपि)** शास्त्र भी **(जनन-समुद्र-त्रासित-सत्त्वोत्तरणपथ: अग्रम्)** संसाररूपी समुद्र से भयभीत प्राणियों के पार उतरने का प्रधान मार्ग था उन मल्लि जिनेन्द्र को प्राप्त हुआ हूं ।

प्रभुतीर्थ को संकटहारिता—हे प्रभु ! आप ऐसे शोभायमान होते हो जैसे कि समस्त ग्रहों के बीच चन्द्र की शोभा होती है । तो ऐसे शिशिर-शीत किरणों वाले चन्द्रमा के ये सब गृह वैभव थे मायने शिष्यसमूह था और आप गणधर, मनुष्य, देवेन्द्र आदि के बीच आप ऐसे शोभायमान हुए जैसे कि अनेक तारों के बीच पूर्ण चन्द्र शोभायमान होता है, क्योंकि आपका तीर्थ भी इस संसार-समुद्र में दु:खी हुए प्राणियों को तारने में अग्रणी है, क्योंकि लोग आपके शिष्य बने; अव्रती हो वह भी भक्त, व्रती हो वह भी भक्त, गणधर हो वह भी भक्त । तो उनके इस अनुराग का कारण क्या था कि प्रभु का सिद्धांत ऐसा पवित्र था कि जिस पर चलने से मनुष्य संसार-

समुद्र के सारे संकटों से दूर हो जाता है । जीवों को यह ही तो चाहिए कि मोह सदा के लिए मिट जाये, और वह बात मिलती है प्रभु के शासन में, इस कारण से सब लोग आपके भक्त हुए ।

छन्द ११०

यस्य च शुक्लं परमतपोऽग्निर्ध्यानमनन्तंदुरितमधाक्षीत् ।

तै जिनसिंहं कृतकरणीयं मल्लिमशल्यं शरणमितोऽस्मि ।।११०।।

अन्वयार्थ—(च) और **(यस्य)** जिनके **(शुक्लं ध्यानं)** शुक्लध्यानरूप **(परम तपोऽग्नि:)** उत्कृष्ट तपोऽग्नि ने **(अनन्तं)** अन्त को प्राप्त न होने वाले **(दुरितं)** अष्ट कर्मरूप पाप को **(अधाक्षीत्)** दग्ध किया था **(तं)** उन **(जिनसिंहं)** जिनश्रेष्ठ **(कृतकरणीयं)** कृतकृत्य, **(अशल्यं)** माया मिथ्यात्वादि शल्यों से रहित **(मल्लिं)** मल्लि जिनेन्द्र की **(शरणमितोऽस्ति)** शरण को प्राप्त हुआ हूं ।

दुरितध्वंसी प्रभु की कृतकरणीयता—हे मल्लिनाथ जिनेन्द्र ! आपका शुक्लध्यान परम तपश्चरण अनन्त पाप को जलाने वाला था । शुक्लध्यान किसे कहते? अनुभूति ध्यान को । अनुभूति क्या? याने जहाँ ज्ञान शुद्ध रहे, रागद्वेष की मात्रा न हो, केवल पदार्थ को विशुद्ध जाने, ऐसी धारी बनी रहे उसे कहते हैं शुक्लध्यान । तो इस शुक्लध्यान में यह ही परम तप है, इसी के लिए बाह्य तप हैं । तो जिनके शुक्लध्यान ने अनन्त पापों को जला डाला, ऐसे हे जिनश्रेष्ठ ! आप कृतकृत्य हुए । जो करने योग्य था सो कर लिया । अब आपको जगत् में कुछ करना नहीं रहा । ऐसे हे कृतकृत्य ! हे जिनश्रेष्ठ ! शल्यरहित मल्लिनाथ भगवान की शरण को मैं प्राप्त होता हूँ । जो अज्ञानी हो, शल्यसहित हो, अधीर हो, घबराहट हो उसकी शरण को कौन गहता है? यद्यपि वे भी जीव हैं और उनपर कर्म का उपद्रव छाया है, भीतर तो उनका स्वरूप वही है जो प्रभु का है, मगर उनकी शरण में आने वालों को मिलता कुछ नहीं और हे प्रभु जिनेन्द्र ! आप शल्यरहित हो, अनन्त ज्ञान, अनंत दर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त आनन्द के अधिकारी हो, इस कारण मैं आपकी शरण को प्राप्त होता हूँ ।

(२०) श्री मुनिसुव्रतजिनस्तवनम्

(वैतालोयं छन्द)

छन्द १११

अधिगतमुनिसुव्रतस्थितिर्मुनिवृषभो मुनिसुव्रतोऽनघः ।

मुनिपरिषदि निर्बभौ भवानुडुपरिषत्वीतसोमवत् ।।१११।।

अन्वयार्थ—(अधिगतमुनिसुव्रतस्थिति:) जिन्होंने मुनियों के उत्तम व्रतों की स्थिति को अधिगत—सुनिश्चित अथवा प्राप्त कर लिया है, जो **(मुनिवृषभ:)** मुनियों में श्रेष्ठ हैं, और जो **(अनघ:)** चार घातिया कर्मरूपी पाप से रहित हैं ऐसे **(भवान्)** आप **(मुनिसुव्रत:)** 'मुनिसुव्रत' इस सार्थक नाम को धारण करने वाले जिनेन्द्र

(मुनिपरिषदि) समवसरण के बीच मुनियों की सभा में **(उड्डपरिषत्परिवीतसोमवत्)** नक्षत्रों के समूह से घिरे हुए चन्द्रमा के समान **(निर्बभौ)** सुशोभित हुए थे ।

प्रभु की सुनिपरिषन्नायकता—मुनि सुव्रतनाथ के स्तवन में कह रहे हैं कि ये मुनिसुव्रत प्रभु मुनियों के परिषद में ऐसे शोभायमान हुए जैसे कि नक्षत्रों के द्वारा घिरा हुआ चन्द्रमा शोभित होता है । प्रभु सकल परमात्मा हो जाते है तो उनकी सेवा में हजारों मुनिजन रहते हैं, उनसे भी घिरे हुए से रहते हैं । तो वहाँ चित्रण किया है कि जैसे नक्षत्रों से घिरा हुआ पूर्ण चन्द्र शोभित होता है ऐसे प्रभु ! आप मुनियों की सभा में शोभित हुए थे । कैसे थे वे मुनिसुव्रत जिनेन्द्र कि जिन्होंने मुनियों के उत्तम व्रतों की स्थिति भली प्रकार की । खुद मुनि थे और मुनिव्रत का पालन भले प्रकार वही कर सकता जो मुनिव्रत से परिचित हो । प्रभु एक विशुद्ध ज्ञानमार्ग की ओर चल रहे थे । तो ऐसे महान् संतों को चरणानुयोग में क्या है, किस तरह करना है, ये विकल्प नहीं करने पड़ते, किन्तु उनकी प्रक्रिया स्वत: ऐसी बनती है जैसा कि चरणानुयोग में लिखा है, और इस तरह से यह कह सकते कि ऐसे महान तीर्थंकर महामुनि का जो प्रवर्तन है उससे चरणानुयोग बना । इस तरह भी कह सकेंगे, क्योंकि चरणानुयोग के बारे में दिव्यध्वनि में और उपदेश में वही वर्णन होता है जैसा कि ज्ञानी पुरुषों का आचरण होता है । ये प्रभु आमलक श्रेष्ठ थे और इसी कारण इनका मुनिसुव्रत नाम पड़ा । जो मुनियों के उत्तम व्रतों को प्राप्त कर चुके हैं ऐसे ये पापरहित प्रभु मुनिपरिषद में ऐसे शोभित हुए जैसे नक्षत्रों के बीच पूर्ण चन्द्र शोभित होता है । इस छंद में कुछ तथ्यों का प्रकाश किया गया है । तीर्थंकर मुनिसुव्रत ही क्या, जितने होते हैं वे सब पहले मुनि रहते हैं और मुनियों की वृत्ति का अच्छी तरह से पालन होता है और मुनिपद के बाद मुनि अवस्था में ही अन्त में १२वें गुणस्थान के अन्त में जैसे ही समस्त घातियाकर्म दूर हो गए, मोहनीय तो पहले ही दूर हो गया था । तीन घातिया कर्म जैसे ही और दूर हुए कि वे सकल परमात्मा होते हैं और तीर्थंकरों का समवशरण होता है और वहाँ मुनियों की बहुत अधिक सत्संग होती है और अनेक मुनि वहाँ केवली भी हो जाते हैं । इतना विशिष्ट अतिशय ज्ञान है कि वे ऐसे मुनिपरिषद में शोभित होते हैं ।

छन्द ११२

परिणतशिखिकण्ठरागया कृतमदनिग्रहविग्रहाभया ।

तव जिन ! तपस: प्रसूतया ग्रहपरिवेषरुचेव शोभितम् ।।११२।।

अन्वयार्थ—**(कृतमदनिग्रह)** काम अथवा अहंकार का निग्रह करने वाले **(जिन)** हे मुनिसुव्रत जिनेन्द्र ! परिणतशिखिकण्ठरागया) तरुण मयूर के कण्ठ के समान वर्णवाली **(तपस: प्रसूतया)** तप से उत्पन्न **(तव विग्रहाभया)** आपके शरीर की आभा—चारों ओर फैलने वाली दीप्ति **(ग्रहपरिवेषरूचेव)** चन्द्रमा के परिवेष—परिमण्डल की दीप्ति के समान **(शोभितं)** सुशोभित हुई थी ।

मुनिसुव्रतनाथ के रूप की ग्रहपरिवेषरुचेव शोभितता—मुनिसुव्रतनाथ भगवान के शरीर का रंग नीलवर्ण का था । सो उसी का चित्रण करते हैं कि मोर के कंठ की तरह वर्ण है जिसके शरीर की आभा का, सो कैसी है वह शरीर की आभा कि जिसने मद का निग्रह कर दिया, ऐसे निग्रह की आभा । जब कोई कषायों का शमन

करता है और विषयों की रेखा जब शरीर पर, मुख पर नहीं आती है तब एक अद्‌भुत छवि बनती है । जीव के परिणामों का असर इस शरीर पर पड़ता है । जैसे कि जब क्रोध हो तो शरीर में भी विकार रहता है । ओठ कांपने लगें, नेत्र भृकुटी चढ़ जाये, बुद्धि मलीन हो जाये । इसी प्रकार जब घमंड होता तो विकार, मायाचार होता तो उसका भी विकार देह पर झलकता है । ऐसे ही लोभतृष्णा में भी यह विकार झलकता है । जिसके परिणाम भले होते हैं उसके शरीर में भी बाधायें कम होती हैं । भले ही कोई तीव्र पाप कर्म का उदय हो कि भले परिणाम होकर भी शरीर में प्रतिकूल बात जगती हो, किन्तु प्राय: एक ऐसा सम्बंध है कि आत्मा के जिस प्रकार के भाव होते हैं शरीर पर भी वैसी अनुकूल बात वर्तती है । तो प्रभु जिनेन्द्र के मद नहीं रहा, कषाय नहीं रही तो एक विचित्र आभा होती है, एक तो शरीर की आभा, दूसरे आत्मा की शांति के कारण उस आभा का कई गुणित हो जाना । उस शरीर की आभा के द्वारा हे जिनेन्द्रदेव ! ऐसी शोभा होती हुई कि जैसे मानो नक्षत्रों के परिमंडल की आभा जग रही हो । नक्षत्र प्राय: कुछ नील वर्ण के होते हैं और उनकी आभा भी आस-पास फैली हो तो जैसे वहां शोभा है वैसे ही हे प्रभु ! आपके परिमण्डल की शोभा है । यहाँ भगवान के शरीर का वर्ण और शान्ति का प्रभाव, इन दो बातों का चित्रण किया है ।

छन्द ११३

शशिरुचिशुचिशुक्ललोहितं सुरभितरं विरजो निजं वपुः ।
तव शिवमतिविस्मयं यते ! यदपि च वाङ्मनसीयमीहितम् ।।११३।।

अन्वयार्थ—(यते) हे महामुनिराज, ! **(शशिरुचिशुचिशुक्ललोहितं)** चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल एवं सफेद खून से युक्त **(सुरभितरं)** अत्यन्त सुगन्धित और **(विरजः)** रज रहित मलरहित जो **(तव)** आपका **(निज वपुः)** अपना शरीर था **(शिवं)** अत्यन्त शुभ तथा **(अतिविस्मयं)** अत्यन्त आश्चर्य करने वाला **(च)** और **(वाङ्मनसीयम्-अपि)** वचन तथा मन को भी **(यत् इहितं)** जो चेष्टा **(तदपि)** वह भी **(अतिविस्मयं)** अत्यन्त आश्चर्य करने वाली है ।

विश्वोपकारी प्रभु के देह की शुक्ललोहितता, सुरभितरता व विरजस्कता—प्रभु का शरीर कैसा था? चन्द्रमा की किरणों की तरह शुक्ललोहित वाला । प्रभु का रुधिर सफेद होता है । इस सम्बन्ध में कुछ आयुर्वेद भी ऐसा बताते हैं कि प्रत्येक मानव के खून दो प्रकार के होते हैं—सफेद और लाल । लाल खून तो कीटाणुवों वाला है और सफेद खून एक निरोगता का साधक और उन कीटाणुवों का अभाव करने वाला होता है, पर भगवान के शरीर में तो सभी सफेद खून था । शायद इस तरह भी सफेद खून हो जाये, एक अलंकार रूप में कह रहे कि चूंकि वे सारे जगत का हित चाहते थे, इसलिए प्रभु सारे संसार की माता की तरह हैं । माता अपने बच्चे से एक निश्छल वात्सल्य रखती है तो उसके परिणाम में माता के स्तन से दूध झरता है, वह भी तो सफेद है । तो फिर जो सारे जगत् का हित चाहता हो उसके सारे शरीर का खून अगर दूध की तरह हो तो अलंकार से विचारो कि कोई आश्चर्य की बात नहीं है, पर एक स्वास्थ्यवर्द्धक की दृष्टि से कुछ जिनका अच्छा शरीर होता है उनकी ऐसी प्रकृति होती है कि वे सफेद खून से भरे हुए होते हैं । अत्यन्त सुगंधित, मलरज से रहित, ऐसा हे प्रभु ! तुम्हारा

जो यह शिव-कल्याणपद देह है सो देह क्या है? एक तो अति विस्मयकारक है, दूसरे यह देह ही वचन और मन की सारी चेष्टाओं को प्रकट करता है । शान्त सुरभित, उससे सब अनुमान होते कि यहाँ विराजमान आत्मा कैसा है? यद्यपि आत्मा के गुण आत्मा में हैं, शरीर का कोई सम्बंध नहीं, फिर भी जिस बाह्य धाम में बस रहे हैं उसकी शोभा और उसकी स्थिति से आत्मा का अंदाज, आत्मा की चेष्टा एक प्रकट-सी हो जाती है । तो ऐसे प्रभु ज्ञान और वैराग्य की मूर्ति थे ।

छन्द ११४

स्थितिजननिरोधलक्षणं चरमचरं च जगत्प्रतिक्षणम् ।

इति जिनसकलज्ञलाञ्छनं वचनमिदं वदतांवरस्य ते ।।११४।।

अन्वयार्थ—(जिन) हे मुनिसुव्रत जिनेन्द्र ! **(चरं)** चेतन **(च)** और **(अचरं)** अचेतनरूप **(जगत्)** संसार प्रतिक्षणं) क्षण-क्षण में **(स्थितिजननिरोधलक्षणं)** ध्रौव्य, उत्पाद और व्ययरूप लक्षण से युक्त है **(इति इदं)** इस प्रकार का यह जो **(वदतांवरस्य ते)** वक्तप्रवर आपका **(वचनं)** वचन है **(तत्)** वह **(सकलज्ञलाञ्छनं)** सर्वज्ञ का चिह्न है—आपकी सर्वज्ञता का द्योतक है ।

प्रभुवाणी की सकलचिह्नता—सारा जगत, चर-अचर जगत, जो चले और न चले, चल-अचल जगत; तो चल से अर्थ हुआ जीव का और अचल से अर्थ हुआ अजीव का, यह जीव और अजीव पदार्थों से भरा हुआ जगत अर्थात् ये सभी पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षण वाले हैं । प्रतिक्षण प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद व्यय ध्रौव्य रहता है । सुनने में भले हो ऐसा लगता होगा कि ये तीन चीजें विरुद्ध अर्थ रखने वाली हैं उत्पाद है तो व्यय कैसा? व्यय है तो उत्पाद कैसा? उत्पाद-व्यय है तो ध्रौव्य कैसा? और ध्रौव्य है तो उत्पाद-व्यय कैसा? लेकिन यह तो वस्तु का स्वभाव है । ये तीनों ही स्वरूप प्रत्येक पदार्थ में प्रति समय रहते हैं । अन्तर नहीं रहता कि अभी उत्पाद हो रहा है तो व्यय न रहे, व्यय अगले समय आ जाये । एक क्षण का भी अन्तर नहीं । उसी समय उत्पाद है, उसी समय व्यय है, उसी समय ध्रौव्य है । कोईसा भी दृष्टांत लो, जैसे घट फूटा और कपाल बन गई, खपरिया हो गईं तो किस समय की बात कह रहे? घट के समय की । तो वहाँ मिट्टी लोंधा मिटा और घट पर्याय हुई । या कपाल के समय की लो; कपाल का उत्पाद, घट का विनाश और मिट्टी का ध्रुव, तीनों ही एक समय में हैं । अब उसकी अगली जो पर्याय है; उत्तर का उत्पाद, पूर्व का विनाश और द्रव्य का ध्रौव्य, ये तीनों ही एक साथ रहते हैं । अन्य दार्शनिकों ने भी किसी दूसरे रूप में ये तीन चीजें मानी तो हैं—जैसे सत्त्व, रज और तम गुण । किन्तु उनका भिन्न रूप कैसे? किसी पदार्थ में सत् गुण है कभी तो शेष दो नहीं है । किसी में तमो गुण है तो शेष दो नहीं । जब रजो गुण हैं तो शेष दो नहीं, और उसका यों परिचय करते हैं कि जैसे कोई पुरुष अज्ञान में बस रहा है तो बस वहाँ तमोगुण है, सत्त्व और रज नहीं है । कोई क्रोधी बन रहा तो—रज में आया । सत्त्व, तम नहीं । कोई योगी पुरुष है, शान्त है तो सत्त्व गुण आया, तम गुण नहीं । किन्हीं ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीन देवताओं के रूप से माना, ब्रह्मा— रचने वाला सो उत्पाद, महेश—संहार करने वाला सो विनाश और विष्णु—रक्षा करने वाला सो ध्रौव्य; ऐसे तीन देवताओं की कल्पना की है, पर उनका समय भिन्न-भिन्न है । तो

एक ही समय में तीन बातें आनी ही चाहिए वस्तु में, अन्यथा वह सत् नहीं रह सकता । जिन्होंने तीन में से किसी एक की भी उपेक्षा की उनका मंतव्य, उनके दर्शन का विषय एक विडम्बनारूप ही रहता है । तो प्रत्येक पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षण वाला है । ऐसे है जिनेन्द्रदेव ! तुम्हारे ये वचन सर्वज्ञता के चिह्न हैं । यथार्थ बात जो कहे वह सब कुछ जानने वाला कहलाता है । लोक में भी तो जो जगत् के समस्त पदार्थों की बात बताये वह सर्वज्ञ बिना कैसे बन सकेगा? यद्यपि सर्वज्ञ के इच्छा नहीं है, स्वयं ही ध्वनि खिरती है, स्वयं ही उपदेश होता है, पर ऐसी ध्वनि उसके ही बनती है स्वत: कि जो सर्वज्ञ हुआ है । तो समस्त पदार्थों के स्वरूप का तो आपके दर्शन में वर्णन है वह सब सर्वज्ञता की निशानी है ।

प्रभुवाणी के माध्यम से पदार्थ का यथार्थ स्वरूप जानकर मोहक्षय का लाभ लेने का संदेश—पदार्थ का यथार्थ स्वरूप जानने से क्या लाभ होता है? मोह रागद्वेष मिटता है । जीव का भला मोह रागद्वेष के मिटने में है । कोई मोह रागद्वेष के प्रोग्राम बनाये, परम्परा बनाये और उसमें अपनी चतुराई समझे तो वह उनके अपने आपके विकल्प से चतुराई है । वास्तविक बुद्धिमानी तो यह है कि आत्मा अपने निसंग ज्ञानमयस्वरूप हो जाने और उस ही में रमने का यत्न करे । मोह रागद्वेष उसके मिटें, वास्तविक चतुराई यह है । तो यह बात मिलती है पदार्थों के स्वरूप के ज्ञान से । प्रत्येक पदार्थ अपने में अपनी पर्याय बनाता है । अपने में अपनी पर्याय का विनाश करता, और अपने में अपने अस्तित्व को सदा रखता । ऐसी बात प्रत्येक पदार्थ की है । मेरा भी यही स्वरूप है । अन्य सब चर-अचर जगत का, सबका भी यही स्वरूप है । फिर कौन किसका लगा? कोई किसी का रंच भी सम्बन्धी नहीं । सब अपने-अपने में, अपने ही ज्ञान द्वारा, अपने ही विकल्प द्वारा अपनी परिणति किए जाते हैं । रागद्वेष मोह मिटा कि आत्मा का जो सहज ज्ञानस्वरूप है वह स्वयमेव अपने आप पूरा प्रकट होता है । यही स्थिति कल्याण की है । सो यह सब मार्ग मिलता है वस्तुस्वरूप के परिचय से । और ऐसा वस्तुस्वरूप हे जिनेन्द्र ! आपने कहा सो सचमुच आप समस्त लोक के हितकारी हैं ।

छन्द ११५

दुरितमलकलङ्कमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन् ।
अभवदभवसौख्यवान् भवान् भवतु ममापि भवोपशान्तये ।।११५।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् **(निरुपमयोगबलेन)** अनुपम शुक्लध्यान के बल से **(अष्टकं)** आठ प्रकार के **(दुरितमलकलङ्क)** कर्म-मल कलङ्क को **(निर्दहन्)** जलाते हुए **(भवान्)** आप **(अभवसौख्यवान्)** मोक्ष सम्बन्धी अतीन्द्रिय सुख से युक्त **(अभवत्)** हुए हैं, ऐसे आप **(ममापि)** मुझ समन्तभद्र के भी **(भवोपशान्तये)** संसार की उपशान्ति के लिये **(भवतु)** होवे ।

आत्मयोग का फल परमात्मत्व—हे प्रभो ! आपने आत्मयोग के बल से याने ज्ञान ज्ञानस्वरूप को ही जाने, निरन्तर जाने ऐसी स्थिति को कहते हैं आत्मयोग । जो कि निरुपम है, जिसकी उपमा अन्य कहीं भी नहीं है, ऐसे एक अनुपम योग के बल से आठों प्रकार के मल, कलंक, पाप को दूर किया, जला डाला और एक मोक्षसुख के अधिकारी हुए । सो हे प्रभु ! अर्थात् स्तवन में आये हुए आप, ध्यान के विषयभूत आप मेरे भी

संसार की शांति के लिये होओ । संसार मिटे, संसार का मिलना मिटे, बस इसी का ही नाम है मोक्ष । और जीव का कल्याण है इसी में । अब कोई शरीर में ममता रखता हो तो यह करतूत है शरीर मिलते रहने की । आखिर यह आप बहुत शक्तिमान भगवान स्वरूप है, सो जैसा यह चाहे वैसा इसे मिलेगा नहीं क्या? यह भगवान आत्मा शरीर को चाहे तो शरीर मिलते ही रहेंगे, और शरीर मिलते रहें, यही दु:ख है, यही क्लेश है; और शरीर न मिले, इसका उपाय है कि शरीर में यह मैं हूँ, यह मेरा है, इन दोनों कल्पनाओं को नष्ट कर दें । शरीर शरीर में है, मैं इससे निराला आत्मतत्त्व हूँ, ऐसी स्पष्ट सुध बनी रहे और ऐसा ही योग बने तो शरीरों के मिलने से छुट्टी मिल सकती है । तो जैसे यहा धन का इच्छुक धनी पुरुष की उपासना करता है, ज्ञान का इच्छुक ज्ञानी की उपासना करता है तो संसाररहित स्थिति पाने का इच्छुक संसाररहित भगवान की उपासना करता है । तो ऐसे पापरहित प्रभो ! मेरे भी भवों की शान्ति के लिए होओ ।

(२१) श्री नेमिनाथजिनस्तवनम्

(शिखरिणीछन्द)

छन्द ११६

स्तुति: स्तोतु: साधो: कुशलपरिणामाय स तदा ।
भवेन्मा वा स्तुत्य: फलमपि ततस्तस्य च सत: ।।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे ।
स्तुयान्न त्वां विद्वान्सततमभिपूज्यं नमिजिनम् ।।११६।।

अन्वयार्थ—(स्तुति:) भगवान् की स्तुति **(स्तोतु:)** स्तुति करने वाले **(साधो:)** भव्य पुरुष के **(कुशलपरिणामाय)** पुण्यसाधक-प्रशस्त परिणाम के लिये होती है **(तदा)** स्तुति के काल अथवा स्तुति के देश में **(स: स्तुत्य:)** वह स्तुति का पात्र आराध्यदेव **(भवेत् मा वा)** हो अथवा न हो **(च)** और **(तत:)** उस स्तुत्य से **(तस्य सत:)** उस स्तुति करने वाले भव्य पुरुष को **(फलमपि)** स्वर्गादि फल की प्राप्ति भी **(भवेन्मा वा)** हो अथवा न हो **(एवं)** इस प्रकार **(जगति)** संसार में **(स्वाधीन्यात्)** स्वाधीनता से **(श्रायसपथे)** कल्याण अथवा सम्यग्दर्शनादि मोक्ष सम्बन्धी मार्ग के **(सुलभे 'सति')** सुलभ रहने पर **(किं)** क्या **(विद्वान्)** विचारपूर्वक कार्य करने वाला विवेकी जन **(सततं)** सदा **(अभिपूज्यं)** इन्द्रादि के द्वारा पूज्य **(तवां नमि जिनं)** आप नमि जिनेन्द्र की **(न स्तुयात्)** स्तुति न करे ? अवश्य करे ।

प्रभुस्तवन से स्तोता के कुशलपरिणाम की निश्चितता—यह नमिनाथ भगवान का स्तवन चल रहा है । जो

साधु पुरुष स्तवन करते हैं प्रभु का तो उनका यह स्तवन उनके कुशल परिणाम के लिए होता है । जिसका स्तवन किया जा रहा है वह यहाँ चाहे न हो और उससे कोई फल भी नहीं मिलता अर्थात् जिसकी स्तुति कर रहे वह प्रभु सुख देने नहीं आता, वह तो यहाँ सामने भी नहीं, फिर भी जो ज्ञानपुञ्ज निर्दोष उस परमात्मतत्त्व की स्तुति करता है तो यह स्तुति स्तवन करने वाले के नियम से सुख शान्ति के लिए होती है । तो अब कितना यह स्वाधीन काम है, कितना यह सुगम कार्य है, जिसमें कोई अपेक्षा भी नहीं कि भगवान सामने हों तब काम बने या भगवान कृपा करें तब काम बने । किन्तु स्तवन करने वाला एक उस गुण-पिण्ड की स्तुति कर रहा है । तो उसकी स्तुति उसी समय नियम से उसके कुशल परिणाम के लिए होगी । ऐसा जब एक स्वाधीन कारण है, कार्य है, इतना जब सुलभ एक कल्याण का मार्ग मिल रहा है कि जिसमें पराधीनता का नाम भी नहीं है । तो हे प्रभु ! सतत् पूज्य इन नमिनाथ जिनेन्द्रदेव को कौन विद्वान स्तवन न करेगा? एक कल्याण के इच्छुक पुरुष में उमंग होनी चाहिए, फिर वह कल्याण अपने आप अपने परिणाम को कर लेगा । कल्याण की प्राप्ति पराधीनता रंच मात्र भी नहीं है, क्योंकि वह अपने ज्ञान और ज्ञानरुचि से उसकी भलाई होती है । सो हे प्रभो ! ऐसी स्वाधीन बात को कोई न अपनाये तो वह समझदार नहीं कहला सकता । इस छंद में स्तुति करने के तथ्य का प्रकाश और स्तुति करने के फल की बात कही गई है, जिससे यह प्रेरणा मिलती है कि नियम से अपने समय प्रभुस्तवन में जो ऐसा यत्न करे और उस प्रभुस्तवन के साथ अपने आपके उस आत्मस्वरूप का मिलान बने, यही भी प्रभुस्तुति ही है, क्योंकि प्रभु में और आत्मस्वरूप में स्वभाव में भेद नहीं है । व्यक्ति अवश्य जुदे-जुदे हैं मगर स्वरूपदृष्टि से देखें तो भेद नहीं है । तो जो प्रभु की स्तुति करता है उसका ध्यान अगत्या अपने आपके स्वरूप में आता है । यही कल्याण का मार्ग है और यह एक सुलभ कल्याण का पथ है, इस कारण हे प्रभु ! सभी विद्वान आपका स्तवन करते हैं ।

छन्द ११७

त्वया धीमन् ! ब्रह्मप्रणिधिमनसा जन्मनिगलं ।
समूलं निर्भिन्नं त्वमसि विदुषां मोक्षपदवी ।।
त्वयि ज्ञानज्योतिर्विभवकिरणैर्भाति भगवन्नभूवन्
खद्योता इव शुचिरवावन्यमतय: ।।११७।।

अन्वयार्थ—(हे धीमन्) हे विशिष्ट बुद्धि से युक्त नमि जिनेन्द्र ! **(ब्रह्मप्रणिधिमनसा)** शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिर चित्त वाले **(त्वया)** आपके द्वारा **(जन्मनिगलं)** संसाररूपी बन्धन **(समूलं)** मूल—कारणसहित **(निर्भिन्नं)** नष्ट किया गया है इसलिये **(त्वम्)** आप **(विदुषां)** विद्वानों के लिये **(मोक्षपदवी)** मोक्षमार्ग-स्वरूप **(असि)** है । **(भगवन्)** हे भगवन् ! **(त्वयि)** आपके **(ज्ञानज्योतिर्विभवकिरणै:)** केवलज्ञानज्योति की संपदारूप किरणों के द्वारा **(भाति ‘सति’)** सुशोभित होने पर **(अन्यमतय:)** सुगत, कपिल ईश्वर आदि अन्यमतावलम्बी जन **(शुचिरवौ)** ग्रीष्मऋतु के सूर्य के दैदीव्यमान रहने **(खद्योता इव)** जुगनुओं के समान **(अभूवन्)** हो गये थे ।

ब्रह्मोपयोग से विदेहता की सिद्धि—हे प्रभो ! हे ज्ञानवान् ! तुमने ब्रह्मस्वरूप में उपयोग लगाया । इस महान

योग के बल से जन्म की बेड़ी को मूल से काट डाला । जीव के लिए तो जन्म बेड़ी है । हम आप बैठे हैं तो निरन्तर बँधे हुए बैठे हैं । कल्पना करो कि यह आत्मा स्वरूप से तो निराला ही है, दूसरा पदार्थ है । यदि यह स्पष्ट अकेला रहता तो इसको शरीर का बन्धन न होता । केवल एक अपना जैसा स्वरूप है ज्ञानज्योति, विशुद्ध ज्ञान, यही मात्र रहता, तो उसमें संकट का क्या काम था? जितने भी संकट आ रहे हैं वे सब इस शरीर के सम्बंध से आते हैं । किसी भी प्रकार के संकट हों; दरिद्रता का, इष्टवियोग का, अनिष्टसंयोग का, सम्मान-अपमान का, प्रशंसा-निन्दा का, भूख-प्यास का, रोग का; सारे संकट इस शरीर पर निर्भर हैं । यदि यह आत्मा शरीररहित रहता, जैसा कि इसका स्वयं स्वरूप है तो इसके लिए कोई आकुलता न थी । शरीर मिला जन्म होने से । तो जन्म एक बेड़ी है । इस बेड़ी को हे प्रभो ! आपने ब्रह्मोपयोग द्वारा मूलत: निर्भिन्न कर दिया । कहीं ऐसा नहीं कि अभी शरीर नहीं है तो कालान्तर में शरीर मिल जाये । इस वाक्य के अर्थ के द्वारा एक दार्शनिक सिद्धान्त का निराकरण होता है । जो ऐसा मानते हैं कि तपश्चरण, योग-साधना के बल से आत्मा मुक्त हो जाता है; शरीर भी नहीं रहता, रागद्वेष भी नहीं रहते, किन्तु इस काल के बाद यद्यपि इस मुक्त अवस्था का भी बहुत लम्बा काल मानते हैं कल्पकाल, फिर भी जब वह काल समाप्त होता है तो सदाशिव ईश्वर जो एक है जगत का आधारभूत, वह उन मुक्त आत्माओं को वहाँ से ढकेल देता है, पतित करता है और फिर जन्म में बाँध देता है? । एक दर्शन का ऐसा सिद्धान्त है । तो समूल निर्भिन्न कर दिया जन्म-बेड़ी को, इससे उसका निराकरण हुआ अर्थात् अब कभी भी यह महा आत्मा, परमात्मा जन्म धारण नहीं करते, सो हे प्रभो ! आपने इस ब्रह्मोपयोग द्वारा जन्म-बेड़ी को सकल घेर लिया और आप ही विद्वान् पुरुषों के लिए मोक्ष की पदवी हो, श्रेणी हो, सीढ़ी हो या मोक्षपद के दर्शावनहार हो । तुममें ज्ञानज्योति ऐसी शोभायमान होती है कि आत्मविभव की किरणों के द्वारा मानो ऐसा महान् प्रकाश भव्य जीवों के चित्त में पहुंचा है कि जिसके आगे जो अन्य मति वाले पुरुष हैं अर्थात् प्रभु के सिद्धान्त से द्वेष रखने वाले जो अन्य दार्शनिक हैं वे एक खद्योत की तरह, पट बीजना की तरह एक शुक्लवर्ण से होते हैं, एक पलासतुल्य हो जाते हैं । इस प्रकार नमिनाथ की स्तुति में इस दूसरे छन्द में मुख्यतया इस सिद्धान्त को बताया कि जन्मबेड़ी को तोड़ने का उपाय केवल एक ब्रह्मोपयोग है, पर आत्मा का जो सहज चैतन्यस्वरूप है उसका ज्ञान बना रहे, उसका उपयोग रहे, सही ज्ञान जब बना रहे, बस यही ब्रह्मयोग इस जन्मबेड़ी को काटने का कारण है ।

छन्द ११८

विधेयं वार्यं चानुभयमुभयं मिश्रमपि तत् ।
विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चापरिमितैः ।।
सदान्योन्यापेक्षैः सकलभुवन ज्येष्ठगुरुणा ।
त्वया गीतं तत्त्वं बहुनयविवक्षेतरवशात् ।।११८।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! **(सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा)** समस्त संसार के महान् गुरुस्वरूप **(त्वया)** आपने **(बहुनयविवक्षेतरवशात्)** अनेक नयों की विवक्षा और अविवक्षा के वश **(प्रत्येकं)** विधि-निषेध, मूर्त-अमूर्त,

स्थूलसूक्ष्म आदि प्रत्येक धर्म का लक्ष्य कर **(नियमविषयै:)** 'भङ्ग' सात ही होते हैं हीनाधिक नहीं इस नियम के विषयभूत और **(सदान्योन्यापेक्षै:)** सदा एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाले **(अपरिमितै:)** अनन्त **(विशेषै:)** त्रैकालिक धर्मों के द्वारा **(तत्तत्वं)** उस वस्तुस्वरूप को **(विधेयं)** विधिस्वरूप **(वार्यं)** निषेधस्वरूप, **(उभयं)** विधि-निषेध स्वरूप, **(अनुभयं)** अवक्तव्य स्वरूप **(च)** और **(मिश्रमपि)** मिश्ररूप भी—अर्थात् स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य तथा स्यादस्ति-नास्ति अवक्तव्य इस तरह सात भङ्गरूप **(गीतं)** कहा है ।

बहुनयविवक्षेतर को तत्त्वज्ञान के तंत्र का प्रदर्शन करने वाले का संस्तवन—कहते हैं कि हे प्रभो ! पदार्थ के स्वरूप के जानने की मुखी आपके सिद्धान्त में बहुत स्पष्ट है । जिस किसी भी पदार्थ में जो कुछ भी समझा जाता हो तो वह तो विधेय है । जैसे जीव में नित्यत्व समझना है तो नित्यपना विधेय है । जो बात पहले कही जा रही है, जिसकी विधि की जा रही है, सद्भाव बताया आ रहा है वह तो विधेय कहलाता है, पर उस विधेय के साथ वार्य और लगा है । विधेय याने उसका प्रतियोगी जिसका विधेय लगा है तो विधेय जिसका नित्यपना है, जीव नित्य है तो वार्य हुआ, निषेध्य हुआ जीव नित्य नहीं है । अब ये दोनों बातें सही हैं । जीव नित्य है यह तो द्रव्यदृष्टि से है, जीव नित्य नहीं है यह पर्यायदृष्टि से है । तो जहाँ दो तत्त्व सामने आये—विधेय और वार्य । उदाहरण में नित्य और अनित्य, तो वहाँ तीसरी बात अनुभव होती है । मानो जैसे कोई समझा रहा कि देखो—द्रव्यदृष्टि से तो नित्य है, पर्यायदृष्टि से अनित्य है तो उसने कहा कि तुम तो एक बार में हो बता दो कि कैसा है? एक समय में कह दो कि कैसा है जीव, इतनी देर क्यों लगाते? एक साथ कहा नहीं जा सकता, इसलिए दोनों नहीं हैं । अनुभय है मायने अवक्तव्य है । इससे तीन बातें सामने हुई थीं कि वही नित्य है, अनित्य है और अनुभय है । चाहे अवक्तव्य कहो । अब इन तीन का उभय लगायें; नित्य, अनित्य, अवक्तव्य । लगाइये—क्रम से नित्यानित्य, नित्य-अवक्तव्य, अनित्य-अवक्तव्य; तीन उभय हुए । जैसे तीन चीजें कोई हों स्वतंत्र और उनका जोड़ा बनाया जाये तो तीन जोड़े बनेंगे । जैसे नमक, मिर्च और खटाई । ये तीन चीजें रखी हैं । अब उनके जोड़े बनायें तो तीन बनेंगे—नमक मिर्च, खटाई नमक, खटाई मिर्च, ये तीन जोड़े बन सकते हैं क्योंकि तीन चीजें स्वतंत्र हैं और एक बनेगी तीनों का मिलकर । तो जैसे तीन चीजें हों तो उनका स्वाद ७ तरह से लिया जा सकता है ऐसे ही जब वस्तु में तीन धर्म हैं—विधेय, वार्य और अनुभय, तो उसके ७ भङ्ग बन जाते हैं । तीन भङ्ग तो ये हैं ही । तीन होते हैं दो-दो के, और एक हो जाता है तीनों का मिलकर । सो और विशेष अगर करें तो प्रत्येक के साथ यह लगायें और साथ ही अनन्त धर्म हैं तो ऐसी दृष्टि बतायें तो अपरिमित एक दृष्टि बनती है सो वह अगर अन्योन्यापेक्ष है, एक दूसरे की अपेक्षा रखता है तो हे प्रभु ! आपने बताया कि वह तत्त्व सही है । जैसे एक पुरुष यही कह रहा कि आत्मा क्षणभंगुर है, अनित्य है, बस यही एकान्त किया जा रहा है और दृष्टि में यह नहीं ले पा रहे कि जीव नित्य है द्रव्यदृष्टि से, तो उसका अनित्य कहना मिथ्या हो जाता है । कोई पुरुष जीव को नित्य कहे जा रहा है, नित्य है, खूब नित्य है, अपरिणामी है, अवस्थायें भी नहीं हैं तो अवस्था का विरोध करने से एकान्त में भी कुछ उपलब्धि न हुई, उसका नित्य कहना मिथ्या है । तो हे जिनेन्द्रदेव ! समस्त लोक में श्रेष्ठ गुरुराज तुमने यह तत्त्व बताया है जो बहुत तपों की विवक्षा और अविवक्षा के वश से सिद्ध हुआ है ।

आत्मकल्याण के लिये वस्तुस्वरूपपरिचय की अत्यावश्यकता—वस्तु के स्वरूप का परिचय इसलिए आवश्यक है कि सही पूर्ण परिचय होने से यह बात चित्त में पूर्णतया आ जाती कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र-स्वतंत्र अस्तित्व लिए हुए है, एक का दूसरा कुछ नहीं लगता, ऐसा बोध हुआ तो वहां ममता दूर हुई । वर्तमान के जो समागम हैं और उनमें लोगों को यह बताया जा रहा है कि किसका घर? मेरा ही तो है, मेरा ही तो बच्चा है, मेरा ही तो पति है, स्त्री है, ऐसी जो दूसरों के विषय में ममता रहती है तो और अधिक ज्ञान न हो किसी को तो इतना ही सोच ले कि इससे पहले भव में भी कोई थे पिता पुत्र सम्बंधी । किसी भी पर्याय में हों, थे तो कुछ न कुछ समागम । वे हमारे लिए आज क्या हैं? ख्याल में भी नहीं । कहो कोई उसी घर में, घर का ही आदमी मरकर बछड़ा हो जाये, झोंटा हो जाये तो उससे क्या मोह करते हैं? वह तो जैसे पशुवों के प्रति व्यवहार है सो ही व्यवहार करेगा । सामने पूर्व भव के लोग खड़े हैं, मगर किसी से ममता थोड़े ही होती है । अगर ममता है तो पशुधन के नाते में ममता है, पूर्व समय के नाते से नहीं है । और फिर विशेष स्वरूप को जाने कि प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व है, स्वयं में परिणमन है, किसी का किसी से क्या मतलब है? रही एक विकारी परिणमन की बात, तो उसमें दूसरा निमित्त तो अवश्य है, मगर निमित्त इसमें न प्रवेश करता, न परिणति करता । यह बात जब समझ में आती है तो अहंकार-ममकार दूर हो जाते हैं ।

छन्द ११९

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं ।
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं ।
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ।।११९।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! **(भूतानां)** प्राणियों की **(अहिंसा)** अहिंसा **(जगति)** जगत् में **(परमं ब्रह्म)** परम ब्रह्मरूप से **(विदितं)** प्रसिद्ध है अर्थात् अहिंसा ही परम ब्रह्म है परन्तु **(सा)** वह अहिंसा **(तत्र)** उस **(आश्रमविधौ)** आश्रम विधि में **(न)** नहीं है **(यत्र)** जिसमें कि **(अणुरपि)** थोड़ा भी **(आरम्भः)** आरम्भ होता है **(ततः)** इसलिये **(तत्सिद्ध्यर्थं)** उस अहिंसा धर्म की सिद्धि के लिये **(परमकरुणः)** परम दयालु होकर **(भवानेव)** आपने ही **(उभयं)** बाह्य और आभ्यंतर के भेद से दोनों प्रकार के **(ग्रन्थं)** परिग्रह को **(अत्याक्षीत्)** छोड़ा है **(च)** और **(विकृतवेषोपधिरतः)** यथाजात लिङ्ग के विरोधी वेष तथा परिग्रह में आसक्त **(न 'अभवत्)** नहीं हुए हैं ।

परम अहिंसा की मूर्ति—जगत् के प्राणियों का परमब्रह्म क्या है ? अहिंसा, क्योंकि जहाँ ममतापरिणाम है वहाँ ब्रह्मस्वरूप स्पष्ट है । अहिंसा के परिणाम का मतलब कषायभाव न रहे, दूसरों के प्रति दुर्भावना न रहे, उसे कहते हैं अहिंसा । कोई लोग दया को कहते कि अहिंसा है, तो वह एक व्यावहारिक बात तो है भली, लेकिन दया को अहिंसा नहीं कहते । दूसरों के उपकार को अहिंसा नहीं कहते । दूसरों का दुःख मिटा देने को अहिंसा नहीं कहते किन्तु कषाय-परिणाम न रहे उसका नाम अहिंसा है । अब जब कषाय-परिणाम नहीं रहता तो दूसरे को सतायेगा कैसे? दूसरे का बुरा विचारेगा कैसे? तो जो वास्तविक अहिंसा है, वही परमब्रह्म है, जो परमब्रह्म है

सो अहिंसा के रूप से ही जगत् में जाना गया है । वह अहिंसा वहाँ जरा भी नहीं रह सकती, उस आश्रम-विधि में जिसमें कि लवलेश भी आरम्भ रहता है । वहाँ अहिंसा नहीं झलक सकती । साधु के मोक्षप्राप्ति करने के लिए जो मार्ग बताया गया है, साधुपने का सो मुक्ति का मार्ग है ना, इसलिए ऐसा निर्दोष निर्विकल्प लगावरहित होना चाहिए कि जहाँ अहिंसा कायम रह सके । अब कोई सोचे कि एक लंगोटी भर रख लें, कौन-सी बड़ी बात है । तो समझो कि उसका थोड़ा भी विकल्प रखना दुःख का कारण है, मोक्षमार्ग का बाधक है, फिर तो और-और बातें भी सोची जा सकती हैं । एक कुञ्जी है—जहाँ कोई विचार विकल्प चिन्ता उत्पन्न हों वहाँ अहिंसा नहीं कहलाती । फिर जो संन्यासी जन कुछ खेत भी रख लेते हैं, कुछ बगीचा भी रखते हैं सो भले ही एक ऊपरी प्रसन्नता वे दिखाते हैं, पर वहाँ अहिंसा नहीं है । कुछ तो विकल्प है, कुछ तो चिंता है । वहाँ तो आरम्भ से भी अहिंसा नहीं और भाव से भी अहिंसा नहीं । तो हे प्रभु ! जिस आश्रम-विधि में रंचमात्र भी आरम्भ हों वहाँ अहिंसा नहीं होती, इस कारण इस परम अहिंसा की सिद्धि के लिए परम साधु आपने दोनों प्रकार के ग्रन्थों **(परिग्रहों)** का परित्याग किया, आप निर्ग्रन्थ हुए । अभ्यंतर परिग्रह तो मोह और कषाय है और बाह्य परिग्रहों में धन-धान्यादिक है । तो बाह्य १० प्रकार के परिग्रहों को भी त्यागा और आन्तरिक १४ प्रकार के परिग्रहों को भी त्यागा । वे १४ प्रकार क्या हैं? ९ नो कषाय, ४ कषाय और एक मोह याने मोहनीय कर्मकृत जो विकार है वह विकार दूर हो तो अहिंसा बनती है और मोहनीयकृत विकार है तो वहाँ अहिंसा नहीं कहलाती । सो हे प्रभु ! आपने २४ प्रकार के परिग्रहों को त्यागकर परम दयालु हुए । अहिंसा की साधना सही बन रही है, इसकी पहिचान क्या है? सीधी पहिचान है कि हे प्रभु ! आपके वेश और उपाधि में रति नहीं रही । जैसा शरीर है सो है, न वहाँ जनेऊ पहिनना, न भस्म रमाना, न जटा रखना, न कोई गटरमाला पहिनना, किसी प्रकार का आपके वेश और उपाधि न रही । बस ऐसी जो आपकी मुद्रा है; प्राकृतिक, यही मुद्रा यह बतला रही है कि आप परम दयालु हैं और आपने दोनों प्रकार परिग्रहों का परित्याग किया उस अहिंसा की सिद्धि के लिए ।

छन्द १२०

वपुर्भूषावेषव्यवधिरहितं शान्तकरणं ।
यतस्ते संचष्टेस्मरशरविषातंकविजयम् ।।
विना भीमैः शस्त्रैरदयहृदयामर्षविलयं ।
ततस्त्वं निर्मोहः शरणमसि नः शान्तिनिलयः ।।१२०।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! **(भूषावेषव्यवधिरहितं)** आभूषण वेष तथा वस्त्रादिक के आवरण से रहित **और (शान्तकरणं)** अपने-अपने विषयों से निःस्पृह इन्द्रियों से युक्त **(ते)** आपका **(वपुः)** शरीर **(यतः)** चूंकि **(स्मरशरविषातङ्कविजयम्)** काम के बाणरूप विष से उत्पन्न व्याधि—की विजय को तथा **(भीमैः शस्त्रैः विना)** भयंकर शस्त्रों के बिना **(अदयहृदयामर्षविलयं)** निर्दयहृदय संबंधी क्रोध के विनाश को **(संचष्टे)** कह रहा है **(ततः)** इसलिये **(त्वं)** आप **(निर्मोहः)** मोहरहित और **(शान्तिनिलयः)** कर्मक्षय से उत्पन्न होने वाली शान्ति के स्थान हैं तथा **(नः)** हमारे **(शरणम्)** शरणभूत्—रक्षक **(असि)** हैं ।

शान्तिनिलय प्रभु की शरण्यता के कारणों का निर्देशन—जिनेन्द्र भगवान के स्तवन में कह रहे हैं कि हे प्रभो ! आपका जो रूप है वह शान्ति का करने वाला है और यह बतला रहा है कि बिना शस्त्र के, बिना कोई भयानक वस्तु के आपने आह्द हृदय होकर क्रोध का विलय कर दिया, कषाय-बैरियों को नष्ट कर दिया । लोक में ऐसी बात कही जाती है कि किसी को नष्ट करना हो तो हथियार तो चाहिए जिसके द्वारा उसका विनाश कर दें, पर आपने कषायों का विलय किया, क्रोध का विलय किया, पर आपका रूप तो शस्त्ररहित है जो इस बात को प्रकट कर रहा है कि काम के बाण के विष के आतंक पर आपने विजय प्राप्त किया है और आपने परम शान्ति प्राप्त की है । जैसे बाण होता है तो उसके नोक पर कुछ विषैला तत्त्व लगाया करते हैं ताकि शत्रु को बाण छिदे तो छिदना तो है, मगर वह विष भी सारे शरीर में व्याप जाये । जो उस विष का बहुत बड़ा आतंक फैलता है, तो ऐसे ही काम के बाण में विष लगा है, उसका आतंक सारे जगत में फैल रहा है, लेकिन आपके इस रूप ने, आपकी इस मुद्रा ने काम के बाण के विषातंक पर विजय प्राप्त की और बिना ही भयानक शस्त्र के, किसी भी प्रकार के शस्त्र के बिना आपने समस्त कषायबैरियों का विलय किया इस कारण हे प्रभु ! आप निर्मोह हो, शान्ति के धाम हो, सो आप मेरे लिए शरण हो, हम सबके लिए शरण हो । जिस-जिस उपाय से आत्मा को अपनी सुध हो, ज्ञानप्रकाश जगे, राग-द्वेष दूर हो, बस वही वास्तविक शरण है ।

(२२) श्री अरिष्टनेमिजिनस्तवनम्

(विषमजातौ उद्‌गतानामछन्द)

छन्द १२१

भगवानृषिः परमयोगदहनहुतकल्मषेन्धनः ।

ज्ञानविपुल किरणैः सकलं प्रतिबुध्य बुद्धकमलायतेक्षणः ।।१२१।।

छन्द १२२

हरिवंशकेतुरनवद्यविनयदमतीर्थनायकः ।

शीलजलधिरभवो विभवस्त्वमरिष्टनेमिजिनकुञ्जरोऽजरः ।।१२२।।

अन्वयार्थ—(भगवान्) जो विशिष्ट ज्ञानवान् अथवा इन्द्रादि के द्वारा पूज्य हैं, **(ऋषिः)** जो परम ऋद्धियों से सम्पन्न हैं, **(परमयोग-दहनहुतकल्मषेन्धनः)** उत्कृष्ट शुक्लध्यानरूपी अग्नि से जिन्होंने कर्मरूपी ईंधन को होम दिया है, **(बुद्धकमलायतेक्षणः)** जिनके नेत्र खिले हुए कमल के समान विशाल हैं **(हरिवंशकेतुः)** जो हरिवंश के

प्रधान हैं, **(अनवद्य-विनयदम-तीर्थनायक:)** जो निर्दोष विनय और इन्द्रियदमन के प्रतिपादक शास्त्र के प्रवर्तक हैं, **(शीलजलधि:)** जो शील के समद्र हैं, और **(अजर:)** जो वृद्धावस्था से रहित हैं ऐसे **(त्वं)** आप **(अरिष्टनेमिजिनकुञ्जरोऽजर:)** अरिष्टनेमि जिनेन्द्र **(ज्ञानविपुलकिरणै:)** ज्ञानरूप विस्तृत किरणों के द्वारा **(सकलं)** समस्त लोकालोक को **(प्रतिबुद्धय)** प्रकाशित कर अथवा जानकर **(विभव:)** संसार से मुक्त **(अभव:)** हुए थे ।

नेमिप्रभु को अतुलवैभवमयता—यह दो श्लोकों का मिलकर अर्थ है । भगवान तो ज्ञानवान परम आत्मा हैं । भगवान ऋद्धि-सिद्धि सम्पन्न हैं । ऋद्धियों में सर्वोत्कृष्ट ऋद्धि केवलऋद्धि कही गई है । ६४ ऋद्धियों में सर्वप्रथम केवलज्ञान का नाम आता है । लोग ऋद्धि शब्द से ऐसा समझते हैं कि कोई लोक में चमत्कार होवे । आकाश में चल रहे, छोटा-बड़ा शरीर बन रहा, ऐसी बातें हों तो वह ऋद्धि कहलाती है, लेकिन ऋद्धि कहते हैं—अतिशय विशेष को, उत्कृष्ट को । तो जिस ज्ञान के द्वारा तीन लोक, तीन काल के समस्त अर्थो को एक साथ स्पष्ट जाना जा रहा हो उस ऋद्धि से भी बढ़कर कोई ऋद्धि है क्या? तो भगवान ऋषि हैं । नेमिनाथ प्रभु की स्तुति में कहा जा रहा यह सब कि प्रभु कैसे हैं आप? परम समाधि योगिरूपी अग्नि के द्वारा कल्मष पाप-कर्मईंधन को जिन्होंने जला डाला । ये पाप कैसे मिटते हैं, ये कर्म कैसे कटते हैं ? उसका उपाय है परम योग । यह ज्ञानोपयोग निज सहज ज्ञानस्वरूप को जानता रहे निरन्तर, ऐसा ज्ञाता रहा करे, यही कहलाता है परम योग । इस परम योगरूपी अग्नि के द्वारा जिन्होंने पापरूपी कर्म-ईंधन को जला डाला है, सो हे प्रभु ! आप भयरहित हुए । इस सारे संसार को ज्ञान की बड़ी किरणों से प्रतिबोध देकर नाथ ! आप 'बुद्धकमलायतेक्षण' हुए, माने कमलवत् नेत्र जिनके विकसित हैं, प्रभु के पलक नीचे नहीं झपकते, खुले हुए रहते हैं । अनन्त बली भगवान अनिमेष नेत्र वाले होते हैं । सो ऐसा एक ज्ञान का ही प्रसार का एक सही चित्रण करा देने वाले प्रभु ! आपने प्रथम तो समस्त जगत को ज्ञान की महान किरणों के द्वारा प्रतिबोध किया और प्रतिबोध करने के बाद आप अभव हुए, भवरहित हुए, मुक्त हुए । प्रभु ! आप हरिवंश की पताका हो, नेमिनाथ भगवान हरिवंश में उत्पन्न हुए और पताका याने केतु कहते हैं श्रेष्ठ को, क्योंकि वह सबसे आगे और सबसे ऊपर चलता है, तद्वत् आप हैं इसलिए आप हरिवंश-पताका हो, और निर्दोषता, पवित्रता, विनय, दमतीर्थ के नायक हो, जो आत्मा का कल्याण कर सकने वाले उपाय हैं उन उपायों के आप नायक हो । खुद करते हैं उपदेश भी आप से होता है । सो हे शील के समुद्र ! अर्थात् बाल ब्रह्मचारी आप भयरहित हैं, अजर हैं और हे अरिष्टनेमि ! आप जिनकुञ्जर अर्थात् जिनश्रेष्ठ हैं । इन दो छन्दों में यह बताया है भगवान के जीवन का चित्रण खींचते हुए कि आपने पहले तो सबको समझाया, प्रतिबोध किया और पश्चात् आप संसार से पार हुए, मुक्त हुए, भवरहित हुए ।

छन्द १२३

त्रिदशेन्द्रमौलिमणिरत्नकिरणविसरोपचुम्बितम् ।

पादयुगलममलं भवतो विकसत्कुशेशयदलारुणोदरम् ।।१२३।।

छन्द १२४

नखचन्द्ररश्मिकवचातिरुचिरशिखराङ्गुलिस्थलम् ।
स्वार्थनियतमनसः सुधियः प्रणमन्ति मन्त्रमुखरा महर्षयः ।।१२४।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! **(स्वार्थनियतमनसः)** मोक्षरूप स्वार्थ में जिनके मन नियन्त्रित हैं **(सुधियः)** जो उत्तम बुद्धि से युक्त हैं और **(मन्त्रमुखराः)** जो 'णमो णेमिजिणाणं' इस सात अक्षर वाले मन्त्र से अथवा सामान्य स्तुति से वाचाल हैं ऐसे **(महर्षयः)** गणधरादि बड़े-बड़े ऋषि **(भवतः)** आपके **(तत्)** उस **(पादयुगलं)** चरणयुगल को **(प्रणमन्ति)** प्रणाम करते हैं **(यत्)** जो कि **(त्रिदशेन्द्रमौलिमणिरत्नकिरणविसरोपचुम्बितम्)** इन्द्रों के मुकुटों में लगे हुए मणियों और रत्नों की किरणों के समूह से चुम्बित हैं, **(अमलं)** निर्मल-उज्ज्वल हैं, **(विकसत्कुशेशय-दलारुणोदरं)** जिनका तलभाग खिले हुए कमलदल के समान लालवर्ण का है, तथा **(नखचन्द्र-रश्मि-कवचातिरुचिर शिखराङ्गुलिस्थलम्)** जिनकी अंगुलियों का स्थान नखरूपी चन्द्रमा के किरणों के परिवेष से अत्यन्त मनोहर अग्रभाग से सहित है ।

प्रभु की महर्षिप्रणम्यता—यहां भी दो छन्द मिलकर हैं । प्रभु ! आपके चरणकमल कैसे हैं जिनको कि गणधर, मंत्र-मुखर महर्षि जन अपने कल्याण की भावना से प्रणाम किया करते हैं । ये चरणकमल-युगल देवेन्द्रों के मुकुट में लगे हुए मणियों में शोभित रत्नों की किरणों के फैलाव से छुवे गए हैं । आपके चरणकमलों को देवेन्द्र नमस्कार करते हैं । तो उनके सिर के झुकते ही उनके मुकुट में जो बड़े कांतिमान रत्न लगे है उनकी आभा आपके चरणों को छूती है । ऐसे आपके चरणकमलयुगल हैं जो मलरहित हैं, निर्दोष हैं, कमलदल की तरह लालिमा को लिए हुए हैं । जिन नखों के मध्य में लालिमा छायी हुई है ऐसे आपके चरणकमल हैं जिनको कि विद्वान् जन, अपनी कल्पना से रखने वाले जन प्रसन्नता से, भक्ति से जिन चरणकमलों की प्रणाम करते हैं । कैसे हैं वे चरणकमल-युगल कि नखरूपी चंद्रमा की किरणोंरूप कवच से अत्यन्त सुन्दर जिनकी शिखराङ्गुलि हुई है अर्थात् दैदीप्यमान है ऐसे चरणकमलों को निज कल्याण चाहने वाले बड़े-बड़े महर्षि जन प्रणाम करते हैं ।

छन्द १२५

द्युतिमद्रथाङ्गरविबिम्बकिरणजटिलांशुमण्डलः ।
नीलजलदजलराशिवपुः सहबन्धुभिर्गरुडकेतुरीश्वरः ।।१२५।।

छन्द १२६

हलभृच्च ते स्वजनभक्तिमुदितहृदयौ जनेश्वरौः ।
धर्मविनयरसिकौ सुतरां चरणारविन्दयुगलं प्रणेमतुः ।।१२६।।

अन्वयार्थ—हे भगवान् ! **(द्युतिमद्रथाङ्गरविबिम्बकिरणजटिलांशुमण्डलः)** कान्तिमान् सुदर्शनचक्ररूपी सूर्य बिम्ब की किरणों से जिनकी कान्ति का मण्डल व्याप्त हो रहा है अथवा **(जटिलांशुमण्डलः-पाठ में)** कान्तिमान्

सुदर्शनचक्ररूपी सूर्य-बिम्ब की किरणों से जिनके कन्धे का बिम्ब व्याप्त हो रहा है **(नीलजलदजलराशिवपुः)** नील मेघ और समुद्र के समान जिनका श्याम शरीर है अथवा **(नील जलद जलराशि वपुः-पाठ में)** नीलकमल के पत्रों के समान जिनका श्याम शरीर है तथा **(ईश्वरः)** जो तीन खण्ड पृथ्वी के स्वामी हैं ऐसे **(गरुडकेतुः)** श्रीकृष्ण, **(च)** और **(हलभृत्)** बलभद्र इस प्रकार **(स्वजनभक्तिमुदितहृदयों)** आत्मबन्धु की भक्ति से जिनके चित्त प्रसन्न हो रहे थे, **(जनैश्वरौ)** जो लोक के स्वामी थे और **(धर्मविनय रसिकौ)** जो धर्मार्थ विनय के रसिक थे—ऐसे दोनों भाईयों ने **(बन्धुभिः सह)** अपने अन्य भाईयों के साथ **(ते)** आपके **(चरणारविन्दयुगलं)** चरणकमलों के युगल को **(सुतरां)** बार-बार **(प्रणेमतुः)** प्रणाम किया था ।

गरुड़केतु व हलधर द्वारा नेमिप्रभु की प्रणम्यता—गरुड़केतु श्रीकृष्ण नारायण अपने बंघुओं के साथ और उनके ही साथ हलधर **(बड़े भाई बलदेव)** ये जिनके चरणार्विन्द-युगल को प्रणाम करते भये, वे प्रभु ध्यानद्वार से मेरे को पवित्रता प्रदान करें । इस छंद में एक इतिहास की झांकी है । अब से लाखों वर्ष पूर्व श्री नेमिनाथ भगवान तीर्थंकर हुए उसी समय में श्री कृष्ण और बलदेव भी हुए थे । श्रीकृष्ण और बलदेव एक पिता के पुत्र थे और श्री नेमिनाथ तीर्थंकर उनके ताऊ के पुत्र थे । जब उनका एक साथ रहने का समय था उस समय भी ये नारायण और बलदेव उनका आदर रखते थे और जब ये कारण पाकर विरक्त हुए और समाधिबल से घातिया कर्मो का विनाश किया, प्रभु बने तब तो एक धर्म-पिपासा के आशय से यह उनकी सेवा में पहुंचे । गरुड़केतु इसलिए नारायण कहा, श्रीकृष्ण कहा कि कांतिमान सूर्यबिम्ब की किरणों के जैसे मानो एक कठिन किरणमंडल हो जिनके, सुभग थे, सुन्दर थे, प्रतापी थे । सभी ९ नारायणों में सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए तो श्रीकृष्ण नारायण । जिनका नीलमेघ की जलराशि की तरह शरीर था, जैसा नेमिनाथ प्रभु का रूप था ऐसा ही श्रीकृष्ण का रूप था कुछ नीलश्याम । सो ये बंधुवों के साथ गए और इनके भाई हलधर भी, ये दोनों के दोनों भक्ति से प्रसन्न है हृदय जिनका, धर्म और विनय के रसिक, सो स्वयं अपने भावों से हे नेमिनाथ प्रभु ! आपके चरणकमलों को प्रणाम करते गये । नारायण और बलभद्र में बहुत घनिष्ठ प्रीति होती है। सभी नारायण और बलभद्रों की परस्पर प्रीति रही और प्राय: नारायण बलभद्र की सेवा किया करते । बलभद्र हैं बड़े भाई, नारायण हैं छोटे भाई । जैसे श्रीराम बलभद्र थे और लक्ष्मण नारायण थे । तो समय-समय पर लक्ष्मण ने श्रीराम की बहुत सेवायें की और उनके चरणकमलों को वे भक्तिपूर्वक ही देखते रहे । लेकिन श्रीकृष्ण नारायण की ही सुध बलभद्र लेते रहे और श्रीकृष्ण का, नारायण का प्रताप अपने जमाने में बलभद्र से भी अधिक था । समय-समय की बात है सब, नारायण और बलभद्र में एक श्रीकृष्ण नारायण की यह विशेषता थी । जो धर्म के पिपासु जो भी भक्त हुआ करते हैं, जब नेमिनाथ प्रभु सर्वज्ञ हुए, सकल परमात्मा हो गए, उनका दिव्य उपदेश हुआ था उस समय ये दोनों भाई अपने बंधु इष्ट मित्रों सहित समवशरण में पहुंचे थे । इससे यह जानना कि वीतराग सर्वज्ञदेव में एक ऐसा आकर्षण है कि देव, देवेन्द्र, मनुष्यों के इन्द्र सभी उनके चरणकमलों की पूजा करते हैं, वह आकर्षण प्रभु का क्या है ? खुद का ही आकर्षण है । जीव खुद अपना भला चाहते हैं और भलाई होती है तो अपने स्वरूप के लगाव से, भक्ति से भलाई होती है, और उसका साधन है प्रभुभक्ति ।

छन्द १२७

ककुदं भुवः खचरयोषिदुषितशिखरैरलंकृतः ।

मेघपटलपरिवीत तटस्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा ।।१२७।।

छन्द १२८

वहतीति तीर्थमृषिभिश्च सततमभिगम्यतेऽद्य च ।

प्रीतिविततहृदयैः परितो भृशभूर्जयन्त इति विश्रुतोऽचलः ।।१२८।।

अन्वयार्थ—(भुवः ककुदम्) जो पृथ्वी ककुद है—बैल के कन्धे के समान ऊचा तथा शोभा उत्पन्न करने वाला है, **(खचरयोषिदुषितशिखरैः)** जो विद्याधरों की स्त्रियों से सेवित शिखरों के द्वारा **(अलंकृतः)** सुशोभित है **(मेघपटलं परिवीततटः)** जिसके तट मेघों के समूह से घिरे रहते हैं **(स्तव वज्रिणा लिखितानि तव लक्षणानि वहति—इति तीर्थं)** जो इन्द्र के द्वारा लिखे हुए **(हे नेमिजिन !)** आपके चिह्नों को धारण करता है इसलिये तीर्थस्थान है, **(सतत अद्य च)** हमेशा तथा आज भी **(प्रीतिविततहृदयैः)** प्रीति से विस्तृत चित्तवाले **(ऋषिभिश्च)** ऋषियों के द्वारा जो **(परितः)** सब ओर से **(भृशं)** अत्यधिक **(अभिगम्यते)** सेवित है **(इति)** ऐसा वह **(विश्रुतः)** अतिशय प्रसिद्ध **(ऊर्जयन्तः अचलः)** ऊर्जयन्त नाम का पर्वत है **(जिस पर जाकर कृष्ण और बलराम ने आपके चरणकमल युगल को प्रणाम किया था)** ।

नेमिप्रभु का ऊर्जयन्तगिरिपतित्व—इस स्तवन में दो-दो छंदों का निरन्तर अर्थ चल रहा है । यह ऊर्ज्जयन्त पर्वत क्यों ऊर्ज्जयन्त के नाम से प्रसिद्ध हुआ । इसका गिरनार भी नाम है हिन्दी में और संस्कृत में नाम है उर्ज्जयन्त । नेमिनाथ जिनेन्द्र उर्ज्जयन्त गिरि पर तपश्चरण करते और वहा से निर्वाण पधारे । क्यों उसका नाम उर्ज्जयन्त पड़ा ? इसकी कई विशेषतायें हैं । और 'उर्ज्जयति' एक धातु का रूप है और प्रीति से विस्तृत है हृदय जिनका ऐसे पुरुषों के द्वारा जो निरन्तर सेवित हुआ उसे उर्ज्जयंत कहते हैं । वह पर्वत मानो एक पृथ्वीरूप बैल की कंधी हो । जैसे बैल के कंधे का आकार होता है वही आकार उस उर्ज्जयन्त गिरि का है, और तब ही अनेकों शिखर हैं, चोटिया हैं और सभी का आकार एक बैल के कंधे जैसा है । सो जो विद्याधरों की नाड़ियों द्वारा सेवित हुआ है शिखर जिसका अर्थात् उन शिखरों पर विद्याधर आराम से पहुंचे थे, ऊपर के ऊपर ही बैठ गए । विहार करना, आराम करना, हृदय प्रसन्न करना, प्रभु के गुण गाना, यह सब शोभा जहाँ हो रही है और मेघ की बिजली से घिर गया है तट जिसका, ऐसा वह उर्ज्जयन्त पर्वत है । इतना विशाल है कि मेघ तो उसके नीचे रहते हैं अथवा चारों तरफ मेघ फिरते रहते हैं । जिसके शिखर तटों की मेघों ने परिक्रमा दी है ऐसा वह उर्ज्ञयन्त गिरि मानो इन्द्र ने आपके ही लक्षण लिख दिया हो, आपके ही चिह्न लिख गया हो । इस तरह वह शोभित अचल पर्वत तीर्थ को बढ़ा रहा है अर्थात् धर्म का प्रसार कर रहा है । मानो इस रीति से ऋषि जनों के द्वारा निरन्तर वहाँ गमन होता है, वहाँ रहते हैं, ध्यान करते हैं और मानो जैसे वहाँ से एक धर्मतीर्थ का भी प्रवाह चलता हो और नाम शब्द के अनुसार तो भाव यह है कि प्रीति से विस्तृत है हृदय जिनका, ऐसे पुरुषों के द्वारा

चारों ओर से निरन्तर जो सेवित किया जाता है उसे कहते हैं उर्ज्ञयन्त । रूप भी इसी प्रकार हैं—उर्ज्ञयुते, उर्ज्ञयेते, उर्ज्जयन्ते । बुद्धिमान् पुरुषों के द्वारा जो पूजित हो उसे कहते हे उर्ज्जयन्त । पर्वत तो पाषाण होता, मगर हे प्रभो ! आपका संसर्ग होने से आज भी वह पर्वत पूज्य है ।

छन्द १२९

बहिरन्तरप्युभयथा च करणमविघाति नार्थकृत् ।
नाथ ! युगपदखिलं च सदा त्वमिदं तलामलकवद्विवेदिथ ।।१२९।।

छन्द १३०

अतएव ते बुधनुतस्य चरितगुणमद्भुतोदयम् ।
न्यायविहितमवधार्य जिने त्वयि सुप्रसन्नमनसः स्थिता वयं ।।१३०।।

अन्वयार्थ—(हे नाथ) हे स्वामिन् ! **(त्वं)** आप **(इदं अखिलं)** इस समस्त संसार को **(युगपत् च सदा)** एक साथ और सर्वदा **(तलामलकवत्)** हस्ततल पर रखे हुए स्फटिक के समान जानते हैं तथा आपके इस जानने में **(बहिः)** बाह्य **(च)** और **(अन्तरपि)** अभ्यंतर **(करणं)** इन्द्रियां पृथक्-पृथक् **(च उभयथा)** और दोनों प्रकार से **(अविघाति)** बाधक नहीं हैं एवं **(अर्थकृत् न)** उपकारक भी नहीं हैं **(अतएव)** इसीलिये **(बुधनुतस्य)** विद्वानों के द्वारा स्तुत **(ते)** आपके **(अद्भुतोदयम्)** आश्चर्य कारक अभ्युदय से युक्त तथा **(न्यायविहितं)** न्याय सिद्ध—आगम ज्ञान से सिद्ध **(चरितगुणं)** स्वकार्य की प्रसाधकता का **(अवधार्य)** निश्चय कर **(वयं)** हम **(सुप्रसन्नमनसः)** अत्यन्त प्रसन्न चित्त होते हुए **(त्वयिजिने)** आप जिनेन्द्र में **(स्थिताः)** स्थित हुए हैं—अपने कार्य का साधक समझ आपकी शरण में आये हैं ।

प्रभुभक्तिभावना की अनुत्तरता का दिग्दर्शन—कहते हैं कि बहिरंग और अन्तरंग दोनों ही प्रकार के साधन हे प्रभु ! कोई अर्थकृत नहीं हैं, पर हे नाथ ! आपका सारा ही वृत्त, सारा ही आत्मप्रदेश सारे विश्व को हाथ पर, हस्ततल पर रखे हुए आंवले की तरह आप जानते थे, इस ही कारण बुद्धिमान् पुरुषों द्वारा नमस्कृत हुए । आपका चरित्र अद्भुत उदय वाला है । सो जो न्यायविधि की बात है उसको अवधारण करके हे जिनेन्द्र ! आपमें अनुराग भक्ति रखते हुए हम सब प्रसन्नचित्त होकर अब स्थित हुए हैं अर्थात् हम को क्या करना है? प्रभु के गुणों का स्मरण कर हम प्रसन्नचित्त होकर बैठे हुए हैं, बस यही हमारी भगवान के प्रति आकाँक्षा या स्नेह है । बस उसमें ही चित्त देते हुए हम स्थित रहें ।

(२३) श्री पार्श्वजिनस्तवनम्

(वंशस्थच्छन्द)

छन्द १३१

तमालनीलैः सधनुस्तडिद्गुणै प्रकीर्णभीमाशनिवायुवृष्टिभिः ।

वलाहकैर्वैरिवशैरुपद्रुतो महामना यो न चचाल योगतः ।।१३१।।

अन्वयार्थ—(तमालनीलैः) तमाल वृक्ष के समान नीलवर्ण, **(सधनुस्तडिद्गुणैः)** इन्द्रधनुषों और बिजलीरूप डोरियों से सहित, **(प्रकीर्णभीमाशनिवायुवृष्टिभिः)** भयंकर वज्र आंधी और वर्षा को बिखेरने वाले ऐसे **(वैरिवशैः)** शत्रु के वशीभूत **(बलाहकैः)** मेघों के द्वारा **(उपद्रुतः)** उपद्रुत होने पर भी **(महामनाः)** उत्कृष्ट धैर्य के धारक **(यः)** जो पार्श्वनाथ भगवान् **(योगतः)** शुक्लध्यानरूप योग से **(न चचाल)** विचलित नहीं हुए थे ।

पार्श्वप्रभु की घोर उपद्रवों से भी अविचलितता की महिमा—श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्र की स्तुति में कह रहे हैं कि यह महामना अर्थात् जिनका महान् विचार है, जिनकी बड़ी साधना है, ऐसे ये पार्श्वप्रभु एक बैरी कमठ के द्वारा किए गए मेघवृष्टि आदिक के उपद्रवों से भी चलायमान नहीं हुए । कैसा था वह उपद्रव, कितना कठिन था वह उपसर्ग कि जहाँ पार्श्वनाथ भगवान विराजे थे वहीं कमठचर आया । ज्योतिषी देव आया और उसने अपनी विक्रिया से सारे उत्पात किये, मेघवर्षा की, घनघोर आंधी चली, ऐसे कठिन उपसर्ग में कोई बाहर निकलना नहीं पसंद करता, मगर वे अपने ध्यान से चलित नहीं हुए । कैसे थे वे मेघ जो बरसे? वे थे तमाल पत्र की तरह नीले वर्ण के । मेघों की यह बात प्राय: समझी जाती है कि जो मेघ धुंधले हों, एकदम कृष्ण वर्ण के हों उनकी अपेक्षा वे मेघ अधिक वर्षाकारी होते हैं जिन में कुछ नीली आभा रहती है । तो वे नीले थे और वहां धनुषाकार एक चित्रण था और बिजलियाँ भी चमक रही थीं । वहां पर बड़ी तेज गाज गिर रही थी, बिजलियाँ गिर रही थीं, तेज वायु थी, तेज वृष्टि थी, ऐसे मेघों के द्वारा उपद्रव हुआ, फिर भी वे महामना पार्श्वप्रभु अपने योग से चलित नहीं हुए । यह जीव केवल उपयोग ध्यान वाला है । इसका अन्य कुछ धन नहीं है । अन्य तो सब विकल्प की बात है । मेरा अमुक है, तमुक है; यह सब केवल कल्पनाजाल है, इसका तो केवल ज्ञानधन है । अपने ज्ञानस्वरूप को निरखें और उस ही ज्ञानस्वरूप में स्थिर रहें, बस यही एक मेरा एक वैभव है । प्रभु ने वह वैभव पाया, अपने में विराजमान अपने चैतन्यस्वरूप को निरखा और उस ही में वे रम रहे । वे योग से चलित न हुए । इस गुणानुवाद से एक प्रेरणा मिलती है कि ज्ञानदृष्टि पर दृढ़ हो, फिर बड़े-बड़े उपद्रव भी इसको विचलित नहीं कर सकते । जो जरा-जरा से कष्टों में घबराता है वह ज्ञानदृष्टि में दृढ़ नहीं । कदाचित् ज्ञानदृष्टि पायी हो, मगर दृढ़तम अभ्यास नहीं है तब कष्ट से वह चलित हो जाता है । प्रभु ज्ञान की निधि थे, वे कैसे समाधि से चलित हो सकते थे ?

छन्द १३२

बृहत्फणामण्डलमण्डपेन यं स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचोपसर्गिणम् ।

जुगूह नागो धरणो धराधरं विरागसन्ध्यातडिदम्बुदो यथा ।।१३२।।

अन्वयार्थ—(उपसर्गिणं) उपसर्ग से युक्त **(यं)** जिन पार्श्वनाथ भगवान् को **(धरणोनागः)** धरणेन्द्र नामक

नागकुमार देव ने **(स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचा)** चमकती हुई बिजली के समान पीली कान्ति से युक्त **(बृहत्फणामण्डलमण्डपेन)** बहुत भारी फणामण्डलरूपी मण्डप के द्वारा **(तथा)** उस तरह **(जुगूह)** वेष्टित कर लिया था **(यथा)** जिस तरह कि **(विरागसंध्यातडिदम्बुदः)** काली संध्या के समय बिजली से युक्त मेघ **(धराधरं)** पर्वत को वेष्टित कर लेता है ।

पार्श्वप्रभु की धरणेन्द्रसेवितता—जिस समय पार्श्वप्रभु पर ऐसा कठिन उपसर्ग हो रहा था उस उपसर्ग को जो भी मनुष्य देखता वह स्वयं बहुत दुःखी हो जाता, इतना कठिन दृश्य था । बालब्रह्मचारी, सदा सरल कोमल, सुकुमाल तन के ऐसे सुन्दर नीलवर्ण वाले घनश्याम, ये प्रभु पार्श्वनाथ घनश्याम ही तो थे, ऐसा प्रभु पर कठिन उपसर्ग आया तो उस समय कोई भी पुरुष देखता तो वह अधीर हो जाता । ऐसे उपसर्ग के समय वहाँ क्या घटना घटी कि धरणेन्द्र और पद्मावती, देव और देवी, इन्होंने अवधिज्ञान से जाना और वहाँ आकर उपसर्ग दूर किया । ये धरणेन्द्र पद्मावती कौन थे? ये पहले नाग-नागिन थे और पार्श्वनाथ के नाना ही संन्यासी होकर उस काठ को ताप रहे थे धूनी जलाकर, उस काठ में ये नाग-नागिन थे । अवसर की बात कि पार्श्वनाथ प्रभु कुमारअवस्था में विहार करते हुए वन में पहुंचे । वहाँ संन्यासी को देखा तो यह समझाने लगे आत्मज्ञान की बात, तो संन्यासी आग-बबूला हुआ और बोला—अरे ! नन्हासा छोकरा मुझे समझाने आया है । तो पार्श्वनाथ ने कहा कि इस अज्ञानतप से कोई लाभ नहीं है । देखो जिस काठ को जला रहे हो उसमें इस वक्त भी एक नाग-नागिन पड़े हुए हैं, तो संन्यासी ने गर्व से उस लक्कड़ को निकाला और उसे फाड़ने लगा तो वहाँ नाग-नागिन निकले । घायल भी हो गए थे । पार्श्वप्रभु ने उनको दयादृष्टि से देखा और हृदय से आशीर्वाद दिया । वे नाग-नागिन मरकर धरणेन्द्र पद्मावती हुए । उन्होंने आकर किस तरह उपसर्ग दूर किया? बहुत बड़े फन का एक मंडप-सा छा दिया पार्श्वनाथ प्रभु के शरीर के ऊपर छत्र की तरह, बहुत बड़ा भारी फणावलि बना दिया । वैक्रियक शरीर तो था ही, उसके नीचे प्रभु सुरक्षित-से थे । तो उस फणावलि के मंडप से फनविस्तार के मंडप द्वारा उस उपसर्ग करने वाले कमठ का गर्व दूर किया और उसके कठिन उपसर्ग में रहने वाले पार्श्व प्रभु की उन्होंने सेवा की । वे नाग क्या थे? धरणेन्द्र थे । सो उस समय एक ऐसी शोभा रही थी कि जैसे लालिमारहित संध्याकाल की बिजली और वहाँ मेघ याने भगवान का रूप तो मेघ की तरह था श्याम और वहा जो बिजली चमकती थी वह बड़े सफेद वर्ण में थी, और यहाँ जो फणमंण्डप बना रखा था वह भी एक इसी प्रकार चमकदार था । उस समय में ऐसी शोभा होती थी, जैसे मानो बिजली के बीच मेघ रहता है । जैसे एक घना मेघ होता है और बिजली चमकती है, अंधेरी रात है उस समय मेघ छाया दिखती है । तो जैसे वहाँ शोभा है ऐसे ही यहाँ शोभा हो रही थी । सारांश यह है कि धरणेन्द्र यक्ष ने अपनी भक्तिवश प्रभु की रक्षा की । प्रभु अरक्षित न थे, उनका कुछ बिगड़ता न था, मगर जो भक्तिवश होते हैं वे अपनी शक्तिवश पूरी वैयावृत्ति किया करते हैं ।

छन्द १३३

स्वयोगनिस्त्रिंशनिशातधारया निशात्य यो दुर्जयमोहविद्विषम् ।

अवापदार्हन्त्यमचिंत्यमद्भुतं त्रिलोकपूजातिशयास्पदं पदम् ।।१३३।।

अन्वयार्थ—**(यः)** जिन्होंने **(स्वयोगनिस्त्रिंशनिशातधारया)** अपने शुक्लध्यानरूप खड्ग की तीक्ष्ण धारा के द्वारा **(दुर्जयमोहविद्विषम्)** मोहरूपी दुर्जय शत्रु को **(निशात्य)** नष्ट कर **(अचिन्त्यं)** अचिन्तनीय **(अद्भुतं)** आश्चर्यकारक गुणों से युक्त **(त्रिलोकपूजातिशयास्पदं)** त्रिलोक की पूजा के अतिशय के स्थान **(आर्हन्त्य पद्म)** आर्हन्त्य पद को **(अवाप्त)** प्राप्त किया था ।

प्रभु की त्रिलोकपूजातिशयास्पदता—प्रभु ने इस दुर्जय मोहबैरी को सर्वप्रथम जीता, तिरस्कृत किया, इसका विध्वंस किया, काहे के द्वारा? अपना जो समाधि योग है वही कठिन धारा है, जिसके द्वारा मोहबैरी नष्ट हो जाता है । मोह एक विभाव परिणाम है । मोह स्वयं कोई जीव की चीज नहीं है, किन्तु मोहनीयकर्म का विपाक होता, अनुभाग होता, उसकी यहाँ झलक होती, और वही झलक बस उपयोग में प्रतिफलन हैं । उसे न सह सकने के कारण वह उसमें लग जाता है, उसे अपना लेता है और दुःखी होता है । तो यह मोह, यह रागद्वेष यह टालने योग्य ही है, क्योंकि इसके रखने से बरबादी है और न रखने से सुरक्षा है । तो ये मोह-रागद्वेष इनका पहले प्रभु ने अपने आत्मज्ञान योग से विध्वंस किया और अचिन्त्य अद्भुत अरहंत पदवी प्राप्त की । जगत् में समारोह अनेक मनाये जाते हैं । कोई पुत्रजन्म का उत्सव मनाता, कोई विवाह शादी का मनाता, कोई किसी का उत्सव मनाता, मगर सब समारोहों में सबसे ऊँचा समारोह है—ज्ञानी वीतराग आत्मा की भक्ति का समारोह । तब ही तो अरहंत होने पर जो समवशरण आदिक शोभा होती है वह शोभा तो कहीं हो ही नहीं सकती । वह शोभा इन्द्र बनाता है, कुबेर बनाता है, देव बनाता है, पर तीर्थंकर न हों तो वह शोभा बनाकर दिखाये तो सही । जो भी शोभा बनाते हैं वे भी एक तीर्थंकर की भक्ति से प्रेरित होकर बना पाते हैं । स्वयं चाहें कि में ऐसी शोभा बनाऊँ तो नहीं बना पाते हैं । तो उसमें प्रभाव किसका है? उस वीतराग सर्वज्ञ आत्मा का । उसकी पवित्रता पर तीनों लोक के इन्द्र आकर्षित होते हैं । तो मोह को जीत लेना, मोह को मिटा लेना—यह ही सबसे बड़ी कमाई है जिससे आत्मा का उद्धार है । भविष्य में भी आत्मा सुखी होगा, शान्त होगा, मुक्त होगा । इसलिए प्रोग्राम एक ही होना चाहिए कि मोह व्यर्थ की चीज है । मोह बनावट की चीज है । मोह न करें तो बिगड़ता कुछ नहीं बल्कि सारा सुधरता है । ऐसे व्यर्थ के मोहादिक विभावों का प्रभु ने ज्ञानयोग के द्वारा विध्वंस किया और अचिन्त्य अद्भुत अरहंत पदवी प्राप्त हुई । सो तीनों लोक की विशिष्ट पूजा के साधनभूत पद को हे प्रभु ! तुमने प्राप्त किया ।

छन्द १३४

यमीश्वरं वीक्ष्य विधूतकल्मषं तपोधनास्तेऽपि तथा बुभूषवः ।

वनौकसः स्वश्रमबन्ध्यबुद्धयः शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे ।।१३४।।

अन्वयार्थ—**(यं)** जिन पार्श्वनाथ भगवान् को **(ईश्वरं)** समस्त लोक के ईश्वर तथा **(विधूतकल्मषं)** घातिचतुष्करूप पाप से रहित **(वीक्ष्य)** देखकर **(तथा बुभूषवः)** उन्हीं के समान होने के इच्छुक **(वनौकसः)** वनवासी **(ते तपोधनाः अपि)** वे तपस्वी भी **(स्वश्रमबन्ध्यबुद्धयः)** अपने प्रयास में निष्फल बुद्धि होते हुए **(शमोपदेशं)** मोक्षमार्ग अथवा शान्ति का उपदेश देने वाले भगवान् पार्श्वनाथ की **(शरणं प्रपेदिरे)** शरण को प्राप्त

हुए थे ।

पार्श्वप्रभु की तपोधनशरणता—जिन ईश्वर पार्श्व प्रभु को निरखकर जो वहाँ वन में रहने वाले और तपस्वीजन थे वे भी यह चाहने लगे कि मैं भी ऐसा होऊ । प्रभु कैसे थे? पापरहित । जिन्होंने पाप को नष्ट कर दिया ऐसे प्रभु को देखकर जो और भी तपोधन थे वे वैसा होने को इच्छा करते हुए वनवासी, संन्यासी तब समझ गए कि हमने जो इतना श्रम किया, धर्म के लिए जो-जो क्रियायें कीं वे सब श्रम व्यर्थ हैं । व्यर्थ रहा निष्फल रहा, तत्त्व तो यहाँ है । ऐसा जानने वाले तपस्वी जन प्रभु के शान्त उपदेश से ही शरण प्राप्त करते आये । उन्होंने भी प्रभु के उपदेश का ही शरण गहा, अपनी कुटेव छोड़ी, अपने अज्ञान को त्यागा और इस पवित्र निर्मोह मार्ग में लगे । जैनशासन में मुक्ति का ऐसा निष्पक्ष मार्ग बताया है कि जिसमें कोई अपेक्षा नहीं की । यह कि किसी को भला लगे, किसी में बुरा लगे । जो सत्य है वह बताया । सच्चा ज्ञान करो और उस ज्ञान पर दृढ़ रहो । उस ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्व की सुध लिए रहो । बस उसी सुध में सबको छोड़ो । केवल शरीर तो नहीं त्यागा जा सकता । वह तो साथ ही बंधा हुआसा है । तो बस इतना भर रहने दो, पर वह भी छूट जाये, प्रभु उस आत्मस्वरूप की शरण प्राप्त करते भये ।

छन्द १३५

स सत्यविद्यातपसां प्रणायकः समग्रधीरुग्रकुलाम्बरांशुमान् ।
मया सदा पार्श्वजिनः प्रणम्यते विलीनमिथ्यापथदृष्टिविभ्रमः ।।१३५।।

अन्वयार्थ—**(सत्यविद्यातपसां प्रणायकः)** जो सत्य विद्याओं तथा तपस्याओं के प्रणेता थे, **(समग्रधीः)** जो पूर्ण केवलज्ञान के धारक थे **(उग्रकुलाम्बरांशुमान्)** जो उग्रवंशरूपी कुल के चन्द्रमा थे, और **(विलीनमिथ्यापथदृष्टिविभ्रमः)** जिन्होंने मिथ्यामार्ग सम्बन्धी कुदृष्टियों से उत्पन्न विभ्रमों को नष्ट कर दिया था **(सः)** वे **(पार्श्वजिनः)** पार्श्व जिनेन्द्र **(मया)** मुझ समन्तभद्र के द्वारा **(सदा)** हमेशा **(प्रणम्यते)** प्रणत किये जाते हैं—मैं उन्हें प्रणाम करता हूं ।।५।।

ये पार्श्वनाथ जिनेन्द्र सत्य ज्ञान और नय के प्रणायक थे, मुख्य नायक थे । स्नातक, गणधर, नायक; ये सब एकार्थक हैं । जिसमें पूर्ण ज्ञान, केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और जो उग्र वंश के कुल के सूर्य थे, ऐसे श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्र उनको मैं प्रणाम करता हूँ । मेरे द्वारा वे प्रणाम किये जाने योग्य हैं, वंदनीय हैं । कैसे हैं प्रभु कि जिन्होंने मिथ्यामार्ग, मिथ्यादर्शन और समस्त भ्रमों को नष्ट कर दिया । विशुद्ध, जहाँ जरा भी शंका नहीं, जरा भी भय नहीं । आत्मा का सहज स्वभाव एकदम जिनके प्रकट हुआ, ऐसे पार्श्वनाथ जिनेन्द्र को मैं प्रणाम करता हूँ ।

(२४) श्री वीरजिनस्तवनम्

(स्कन्धकछन्द)

छन्द १३६

कीर्त्या भुवि भासि तया वीर ! त्वं गुणसमुच्छ्रया भासितया ।

भासोडुसभासितया सोम इव व्योम्नि कुन्दशोभासितया ।।१३६।।

अन्वयार्थ—(हे वीर !) हे वर्धमान जिनेन्द्र ! **(त्वं)** आप **(भुवि)** पृथ्वी पर **(गुणसमुच्छ्रया)** आत्मा और शरीर सम्बन्धी गुणों से उत्पन्न **(भासितया)** सुशोभित अथवा उज्ज्वल **(तया)** उस **(कीर्त्या)** ख्याति से **(उडुसभासितया)** नक्षत्रों की सभा में आसित—स्थित, एवं **(कुन्दशोभासितया)** कुन्दकुसुम की शोभा के समान सफेद **(भासा)** कान्ति से **(व्योम्नि)** आकाश में **(सोम इव)** चन्द्रमा के समान **(भासि)** सुशोभित होते हैं ।

महावीर प्रभु की अनुत्तरकीर्तिभासितता—अब श्री महावीर भगवान की स्तुति की जा रही है । इस स्तवन के छंदों में बहुत सुन्दर कर्णप्रिय अनुप्रास है याने छंद के चारों चरणों में अन्त के वही-वही शब्द आये हुए हैं । जैसे—प्रथम छन्द में कहा है—कीर्त्या भूवि भासि........। इस छंद में भासि तथा इन चारों अक्षरों में चारों चरणों में अनुप्रास किया गया है । इसी तरह चार-चार वर्णों का सब छन्दों में अनुप्रास है । यह समंतभद्राचार्य की कृति है, इनका बनाया हुआ एक जिनशतक है, जिसमें विद्वत्ता का बहुत अतिशय समझ में आता है । दिगम्बर जैनाचार्य विद्वत्ता में और शब्दों के कोश में बहुत अधिक कुशल थे, जानकार थे, लेकिन कभी उन्होंने अपनी कठिन लेखनी नहीं चलायी । केवल जीवों के उपकार के लिए बहुत सरल संस्कृत में उनकी रचना है, पर जो ऊँचा विद्वान् होता है तो किसी न किसी समय अपनी छटा में आ जाया करता है । जैसे चाहे कितनी ही गम्भीर वातावरण की सभा हो, पर जहाँ ही कोई भजन हुआ, संगीत हुआ तो नाचने वाले के पैर खुद ही उछल उठते हैं । यह तो कोई बहुत बड़ी कला नहीं है । इन छंदों पर जिनशतक में केवल दो ही अक्षरों में, केवल दो ही अक्षरों में श्लोक लिखे, जैसे न म, इन दो अक्षरों ही में छंद पाये जाते हैं । कै के अनुप्रास कई छंदों में तो इस तरह की शब्दरचना है कि जिसे फैलाया जाये कोई आकार में तो सर्प बन जाये, हार बन जाये, उन्हीं शब्दों की रचना में । केवल शब्दों को रखने से ही अनेक चीजें बन जाये । धनुष बने, घड़ा बने आदिक अनेक विचित्र कलाओं-पूर्ण वह जिनशतक है, उस ही समान एक छोटीसी कला में समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि हे परमेश्वर प्रभु ! तुम शोभायमान गुणों में उत्कृष्ट कीर्ति के द्वारा इस पृथ्वी पर बहुत शोभायमान होते हो । जैसे कि आकाश में नक्षत्रों की सभा में एक दैदीप्यमान उस कांति से, उस स्वच्छ शोभा वाली कांति से जैसे कि चन्द्रमा शोभायमान होता है, इसी प्रकार अपने आत्मा के उन असीम अनन्त गुणों के बीच में शोभायमान हो रहे हो । भगवान कीर्ति-निधान गुणों के पुञ्ज हैं, उनका यह स्तवन चल रहा है ।

छन्द १३७

तव जिन शासनविभवो जयति कलावपि गुणानुशासनविभवः ।

दोषकशासनविभवः स्तुवन्ति चैनं प्रभाकृशासनविभवः ।।१३७।।

अन्वयार्थ—(हे जिन) हे वीर जिनेन्द्र ! **(गुणानुशासनविभवः)** भव्यजीवों के भव को नष्ट करने वाला **(तव)**

आपके **(शासनविभव:)** प्रवचन का यथावस्थित समस्त पदार्थों के प्रतिपादनरूप सामर्थ्य **(कलावपि)** कलिकाल में भी **(जयति)** जयवन्त है—सर्वोत्कृष्टरूप से वर्तमान है **(च)** और **(प्रभाकृशासनविभव:)** प्रभा—ज्ञानादितेज से आसनविभुओं—लोक के तथाकथित हरि हरादि स्वामिओं को कृश—महत्त्वहीन करने वाले **(प्रभाकृशासनविभव:)** दोष रूप चाकुकों के निराकरण करने में समर्थ गणधरादि देव **(एनं)** आपके इस शासन विभव की—प्रवचन सामर्थ्य की **(स्तुवन्ति)** स्तुति करते हैं ।।२।।

प्रभु का अलौकिक शासनवैभव—हे प्रभु ! आपका शासन रूप वैभव इस कलिकाल में भी जयवन्त हो रहा है । जहाँ लोग प्रकृत्या दुर्भावना की ओर ही रहते हैं वहाँ बड़ा नियंत्रण हो, संयम हो, सत्संग हो तो इसके परिणाम कुछ दृढ़ होते हैं । दृढ़ करते-करते भी कोई असत्संग मिले, कोई अनुचित अवसर मिले तो इसका पुराना संस्कार फिर उखड़ जाने के लिए तैयार होता है । ऐसे इस कलिकाल में भी हे प्रभो ! आपका शासन जयवन्त हो रहा है । जिन जीवों का भवितव्य अच्छा है, जो हितपंथ पाने वाले हैं उनको प्रभु के शासन का ऐसा प्रभाव है कि जिसके द्वारा वे अपने आत्मा के उस स्वरूप-वैभव की निरखते रहते हैं और तृप्त रहते हैं । वह कौनसी बूटी है जिसके पाने से नारकी जीव भी कुटते-पिटते हुए भी अन्तर में प्रसन्न रहते हैं, उपयोग द्वारा उस अनादि अनन्त चैतन्यस्वरूप को निरखते हैं और उसमें यह ही मैं हूँ, इस तरह की अनुभूति के कारण तृप्त रहते हैं ? एक तो स्वरूप का देख लेना और एक स्वरूप को यह मैं हूँ इस प्रकार रूप में अनुभवना—इन दोनों में ऐसा अन्तर है कि जैसे खुद का बुखार भी ज्ञान में रहता है । जैसे—उन दोनों ज्ञानों में अंतर ऐसे ही अन्यत्र आत्मस्वरूप की साधना में और अपने आप में यह ही मैं हूँ, इस अहं के अनुभव में अन्तर है । तभी बताया है कि प्रथम तो यह भक्त 'दासोहं' याने हे प्रभु ! मैं आपका दास हूँ, इस तरह की अनुभूति बना लेता है, फिर यह भी छूटता है और 'सोहं' की भावना बना लेता है याने हे प्रभु ! जो आप हैं सो ही मैं हूँ । फिर यह 'सोहं' का भी विकल्प छूट जाता है और इस चैतन्यस्वरूप का ही बस एक प्रकाश प्रतिभास याने चेतनक्रिया का विषय निज सहज-स्वरूप ही रहता है । ऐसे जिन्हें ज्ञान हो, आज के युग में भी, इस कलिकाल में भी वे पुरुष धन्य हैं । और उनका यह इतना ऊँचा पुरुषार्थ है जैसे पहले काल में बड़े-बड़े मुनियों का पुरुषार्थ, उनका ऊँचा काम था, शक्ति ऊँची थी, यहाँ शक्ति कुछ न होकर भी निज सहज-स्वरूप को ज्ञान में ले तो इस पुरुषार्थ का माप तो कीजिए, कितने महान् पुरुषार्थ की बात है । तो ऐसा आपका शासन संभव, जिसकी उपलब्धि से आत्मा पवित्र हो जाता है, इस कलिकाल में भी जयवंत हो रहा है । जो समस्त देशों के शासन को दूर करते, ऐसे लोग भी जो अपने क्षीण शासन के स्वामी बन रहे हैं वे तक भी और बड़े-बड़े संतजन इन महावीर भगवान का स्तवन करते हैं । क्यों करते कि बस उनकी देन थी एक अपूर्व शासन की, सम्यग्ज्ञान की ।

छन्द १३८

अनवद्य: स्याद्वादस्तव दृष्टेष्टाविरोधत: स्याद्वाद: ।

इतरो न स्याद्वादो सद्वितयविरोधोन्मुनीश्वराऽस्याद्वाद: ।।१३८।।

अन्वयार्थ—(हे मुनीश्वर) हे मुनिनाथ ! **(स्याद्वाद:)** 'स्यात्' इस कथंचित् अर्थ के वाचक शब्द से सहित **(तव)**

आपका **(स्याद्वाद:)** स्यादस्तीत्यादि अनेकान्तरूप कथन **(दृष्टेष्टाविरोधत:)** प्रत्यक्ष तथा आगम आदि प्रमाणों से विरोध न होने के कारण **(अनवद्य:)** निर्दोष है । इसके विपरीत **(अस्याद्वाद:)** 'स्यात्' इस शब्द से रहित **(इतर:)** अन्य जो **(वाद:)** एकान्तरूप कथन है **(स:)** वह **(द्वितय विरोधात्)** दृष्ट और इष्ट—प्रत्यक्ष तथा आगम आदि प्रमाणों से विरोध होने के कारण **(अनवद्य:)** निर्दोष **(न)** नहीं है ।

प्रभु का स्याद्वाद सुदर्शनचक्र—हे प्रभो ! आपका स्याद्वाद अवद्यरहित है अर्थात् निर्दोष है, क्योंकि उसमें न प्रत्यक्ष से विरोध होता है और न आगम से विरोध होता है । इस कारण से यह स्याद्वाद अनवद्य स्याद्वाद है । आपके स्याद्वाद को छोड़कर, अन्य जो शासन हैं, मत हैं वे स्याद्वाद नहीं हैं, क्योंकि वे तो दोनों का ही विरोध करने से अर्थात् दोनों धर्मों का घात करने से—आत्मदृष्टियों का घात करने से और अपना और पराया घात करने से वह अस्याद्वाद है, क्यों? क्योंकि जब वस्तु में कोई एकांत मान लिया, नित्य ही है, तो कोई दृष्टि नहीं इसकी बन सकती, और कोई दृष्टि लगायें, क्योंकि अन्य का विरोध है । दूसरी बात—जो एकान्तपक्ष में जाता है वह अपना ही घात करता है और दूसरे का भी धात करता है, क्योंकि एकान्त में वस्तु का सही स्वरूप नहीं मिलता और जब तक सही स्वरूप का बोध न हो जाये तब तक आत्मा को यह प्रकाश नहीं मिलता है और न रागद्वेष मोह दूर होते । जब यह चित्त में आये कि प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, एक का दूसरा स्वामी नहीं, अधिकारी नहीं, करने वाला नहीं, भोगने वाला नहीं, तो इस जीव का मोह दूर होता है । यह बड़ा अज्ञान है, अंधकार है जो किसी जीव में, किसी पदार्थ में यह मेरा है ऐसी बात चित्त में बसे और उसके प्रति ही शुद्धता का भाव रहे तो यह बहुत बड़ी विपदा है जीव की । व्यर्थ की विपत्ति । मिलता कुछ नहीं और विकल्प करके कर्मबन्ध और चल रहा है । सो वह शुद्ध ज्ञानप्रकाश तब ही मिल सकता है जिसके बल से मोहादिक दूर होते हैं । कब मिल सकता और फिर उन सबको ही त्याग दें और निर्विकल्प सत्य आराम में आये । छोड़ना दो तरह से होता है । जैसे व्रत-संयम का छोड़ना, सारा संसार व्रत-संयम छोड़े हुए है, एक तो ऐसा छोड़ना और एक व्रत-संयम पाल कर, कुशल होकर, गुणसम्पन्न होकर उन सब क्रिया और विकल्पों को त्यागकर केवल समाधिस्थ हुए । एक यहाँ व्रत-संयम छूटता है, तो दोनों में कितना अन्तर है? ऐसे ही जिसने विकल्पों का परिचय पाकर छोड़ा है एक तो वह छोड़ने वाला और एक विकल्प का स्वरूप जानता ही नहीं है और स्वच्छन्द होकर विकल्प करता है । कहें कि जब शास्त्रों को छोड़ना ही पड़ेगा, जितना शास्त्रों द्वारा ज्ञान किया जाता है वह छोड़ना पड़ता है और निर्विकल्प भाव में आना होता है तो जब सब शास्त्रज्ञान-विकल्प छोड़ेगा ही यह जीव तो फिर हम उस शास्त्रज्ञान को करें ही क्यों, जानें ही क्यों? सो बात ऐसी है कि सर्व प्रकार से ज्ञान पाये बिना उनको छोड़ भी न सकेंगे सही ढंग से, इसलिए जरूरी है कि उस निर्विकल्प अनेकान्त में पहुंचने के लिए अनेकान्तात्मक वस्तु का ज्ञान करना होता है । अनेकान्त में ३ शब्द हैं—न, एक, अंत । अन्त कहते हैं धर्म को । जहाँ एक धर्म नहीं, बल्कि अनेक धर्म हैं उसको कहते हैं अनेकान्त । धर्म मायने वस्तु का स्वरूप । और एक अर्थ है—'न एक अन्त:' माने एक भी धर्म जहाँ न रहे उसे कहते हैं अनेकान्त । इस तरह दो तरह के अनेकान्त हुए, पर यह अनेकांत तो अनेकान्त से ज्ञान करके बड़ी साधना के बाद मिलता है कि जहाँ एक भी धर्म विकल्प दृष्टि में न हो । ऐसी ऊंची तैयारी इस स्याद्वाद के द्वारा वस्तुपरिचय पाकर होती है, वह आपके शासन में मिलेगा ।

छन्द १३९

त्वमसि सुरासुरमहितो ग्रन्थिकसत्त्वाशयप्रणामामहितः ।

लोकत्रयपरमहितोऽनावरणज्योतिरुज्ज्वलद्धामहितः ।।१३९।।

अन्वयार्थ—हे भगवान् ! **(त्वम्)** आप **(सुरासुरमहितः)** सुरों तथा असुरों से पूजित हैं, किन्तु **(ग्रन्थिकसत्त्वाशयप्रणामामहितः)** मिथ्यादृष्टि प्राणियों के अभक्त हृदय से प्राप्त होने वाले प्रणाम से पूजित नहीं है, आप **(लोकत्रयपरमहितः)** तीनों लोकों के परम हितकारी हैं, और **(अनावरणज्योतिरुज्ज्वलद्धामहितः)** और केवलज्ञान से प्रकाशमान मुक्तिरूप स्थान को प्राप्त है ।

महावीर प्रभु की सुरासुरमहितता व लोकत्रयपरमहितरूपता—हे प्रभु ! आप देव असुर आदिक के द्वारा पूजे गए हो । परिग्रही जीवों के प्रणामों से आप महान नहीं हैं, आप तो अपने ही गुणों के कारण महान् हैं । तीन लोक का परमहित करने वाले हैं । निरावरण ज्योतिस्वरूप हैं और निर्मल धाम में ही जिनका हितस्वरूप चल रहा है ऐसे हे प्रभु ! आप उत्कृष्ट कीर्ति से शोभायमान हो । 'विषापहार' स्तोत्र में कहा है कि भगवान ! दूसरों के दोष बताये जाते हैं याने कुदेव के दोष कहे जाते हैं इस कारण आप महान् नहीं हैं याने तुलना की दृष्टि से आपको हम महान् नहीं कहते कि चूंकि आप अनेक दोषवान देव, गुरु आदिक से उत्कृष्ट हैं, इसलिए आप महान् हो, हम ऐसी तुलना से महान् नहीं कहते, परनिन्दा के कारण आप महान् नहीं हैं । किन्तु आप तो स्वयं उत्कृष्ट गुणविकास के कारण बड़े हो । जैसे समुद्र अपने आप बड़ा है, कहीं नदियों का छोटा वर्णन करने से बड़ा नहीं है कि नदियाँ तो कुछ भी नहीं हैं, तालाब तो कुछ भी नहीं है, यों महान नहीं, किन्तु समुद्र तो अपने आपके स्वरूप से महान है, गम्भीर है । ऐसे ही हे प्रभु ! आप परिग्रही जीवों के प्रणाम के कारण महान नहीं, किन्तु स्वयं महान हैं ।

छन्द १४०

सभ्यानामभिरुचितं दधासि गुणभूषणं श्रिया चारुचितम् ।

मग्नं स्वस्यां रुचिर तं जयसि च मृगलाञ्छनं स्वकान्त्या रुचितम् ।।१४०।।

अन्वयार्थ—हे भगवान् आप **(सभ्यानां)** समवसरण भाषा में स्थित भव्यजनों के **(अभिरुचितं)** रुचिकर, तथा **(श्रिया)** अष्ट प्रातिहार्यरूप लक्ष्मी से **(चारुचितं)** सुन्दरतापूर्वक व्याप्त **(गुणभूषणं)** गुणों के भूषण को अथवा गुणरूप आभूषण को **(दधासि)** धारण करते हैं **(च)** और **(स्वकान्त्या)** अपनी कान्ति के द्वारा **(स्वस्यां रुचि)** स्वकीय कान्ति में **(मग्नं)** निमग्न, **(रुचितं)** सुन्दर **(तं मृगलाञ्छनं)** उस चन्द्रमा को **(जयसि)** जीतते हैं ।

महावीर स्वामी की सातिशय अभिरुचितता—हे प्रभु ! आप सभ्य पुरुषों के द्वारा अभिरुचित हो अर्थात् सज्जन

सभ्य पुरुषों की रुचि के विषयभूत हो । बड़े-बड़े पुरुषों की आपमें रुचि होती है पर आप बड़ी उत्कृष्ट लक्ष्मी से अत्यन्त सुन्दर गुणों के गुणरूपी भूषण को धारण कर रहे हो और अपने आपमें अपने प्रवचन आपकी श्री में आप मग्न हो और आप अपनी क्रान्ति से लोकप्रिय इस चंद्रमा को भी जीतते हैं । लोक में चन्द्र एक सुखकारी मालूम होता है, पर वास्तविक सुखकारी तो प्रभु आप हैं । आपके गुणों के स्मरण से, आपके उस शुद्ध चैतन्यस्वरूप के ध्यान से आत्मा के भव-भव के बांधे हुए बंधन भी टूट जाते हैं, सो ऐसे आप बंधनरहित उत्कृष्ट आत्मा हो ।

छन्द १४१

त्वं जिनगतमदमायस्तव भावानां मुमुक्षुकामद माय: ।

श्रेयान् श्रीमदमायस्त्वया समादेशि सप्रयामदमाय: ।।१४१।।

अन्वयार्थ—(मुमुक्षुकामद !) हे मोक्षाभिलाषी जीवों के मनोरथ को देने वाले **(जिन !)** वीर जिनेन्द्र ! **(त्वं)** आप **(गतमदमाय:)** गर्व और माया से रहित हैं तथा **(तव)** आपका **(भावानां)** जीवादि पदार्थ विषयक **(माय:)** केवलज्ञान अथवा आगमरूप प्रमाण **(श्रेयान्)** अत्यन्त श्रेष्ठ अथवा प्रशंसनीय है । हे भगवान् ! **(त्वया)** आपने **(श्रीमदमाय:)** लक्ष्मी के मद को नष्ट करने वाला अथवा स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त करने वाली श्रीलक्ष्मी से युक्त और माया से रहित **(स प्रयामदमाय:)** श्रेष्ठ एवं प्रशस्त इन्द्रिय विजय का **(समादेशि)** उपदेश दिया है ।

प्रभु की निर्दोषता व कामदरूपता—महावीर भगवान के स्तवन में समन्तभद्राचार्य गुणों का शब्दछटाओं के साथ वर्णन कर रहे हैं । हे प्रभो ! तुम गतमदमाय हो याने घमंड, माया और उपलक्षण से शेष सभी कषायें नष्ट हो चुकी हैं । आप कषाय से रहित हो । जो तुम्हारे भक्त जन हैं, मुमुक्षु जन हैं उनको अभीष्ट प्रदान करने वाले हो । जो प्रभु का गुणस्मरण करते हैं उनको स्वयं पवित्रता जगती है, क्योंकि उपयोग में जैसी बात रखी उसके अनुसार उपयोग चलता है । उपयोग में किसी के दोष निरखेंगे तो उससे मिलता तो कुछ है नहीं और उपयोग में दोष आने के कारण दोष का चेहरा तो इस पर हावी हो गया, और कुछ न कुछ इसमें अवनति होती है । और जहाँ गुण की दृष्टि होती है वहाँ उपयोग में गुण तो आया इसलिए उपयोग की बढ़वार होती है, विकास होता है, और फिर जो शुद्ध अंतस्तत्त्व है, ज्ञानमूर्ति वीतराग ज्ञानमात्र ऐसी निर्दोष ज्ञानज्योति को कोई ज्ञान में ले तो उसका इतना प्रभाव होता है कि चूंकि ज्ञानज्योति ही ज्ञान में रहे तो परविषय छूटकर इसे अपने आपका भी अनुभव प्रतिभास बनता है । इसी कारण प्रभु परोपकार से यह बात कही गई है कि आप मुमुक्षु जनों के लिए अभीष्ट प्रदान करने वाले हो अर्थात् श्रेय, कल्याणरूप हैं । उत्कृष्ट लक्ष्मीवान हैं और अमाय हैं मायने मायारहित हैं । विशुद्ध जो सहजस्वरूप है वही जहाँ प्रकट होता है वह मायारहित स्वरूप होता है, और जो उपाधि में जो कुछ भी स्वरूप होता है वह मायास्वरूप होता है । प्रभु माया से अतीत हैं, सो हे प्रभु ! तुमने जगत के जीवों को दोषों से दूर होने का गुणों में आगे बढ़ने का उपदेश किया है ।

छन्द १४२

गिरिभित्यवदानवत: श्रीमत इव दन्तिन: स्रवद्दानवत: ।

तव शमवादानवतो गतमूर्जितमपगतप्रमादानवतः ।।१४२।।

अन्वयार्थ—हे भगवान् ! **(गिरिभित्यवदानवतः श्रीमतः स्रवद्दानवतः दन्तिनःइव)** जिस प्रकार पहाड़ की कटनियों में पराक्रम से युक्त अर्थात् उनका विदारण करने वाले उत्तम जाति विशिष्ट तथा झरते हुए मद से सहित हाथी का **(ऊर्जितं)** बलशाली अर्थात् रूकावट से रहित **(गतं)** गमन होता है उसी तरह **(शमवादान् अवतः)** दोषों के उपशमन का उपदेश देने वाले शास्त्रों के रक्षक तथा **(अपगतप्रमादानवतः)** अभयदान से युक्त **(तव)** आपका **(पूर्जितं)** उत्कृष्ट **(गतं)** गमन-विहार हुआ था ।

प्रभुवाणी की महिमा—प्रभो ! आपकी वाणी खिरी, दिव्यध्वनि हुई और इस स्वरूप से अपने जगत को बहुत कुछ उपलब्धियां भी हैं । यदि भगवान की ध्वनि न होती तो यह सब शास्त्र-परम्परा भी न होती और फिर जीव किस तरह से ज्ञानप्रकाश पाते और न पाते तो जैसे और भव खोया वैसे ही यह भी भव खो दिया जानें । सो झर रहा है मद जिसके ऐसा हाथी जैसे दानवान् कहलाता है । दान मायने मद । अनुप्रास दिया है और आपकी झर रही है वह दिव्यध्वनि वाणी, आप इस तरह से जगत् को उपलब्धि देने वाले हैं कि आप शान्ति और शान्ति का ही दान प्रदान करने वाले हो, ऐसे हे प्रभु ! महावीर भगवान जो आपके गुणों का स्तवन करते हैं वे आपसे इतना महान लाभ पाते हैं कि जिससे सदा के लिए उनके सर्व संकट दूर हो जाते हैं । संकट कहाँ? जहाँ भ्रम है, अज्ञान है, बाह्यपदार्थों में लगाव है वहीं संकट है । जहाँ अपने स्वरूप की सम्हाल है, सबसे निराला ज्ञानमात्र हूँ ऐसी सुध है वहाँ संकटों का अभाव है, हो ही जाता है । सो यह कला आपके स्वरूप के स्मरण में भक्तों को स्वयमेव प्राप्त होती है ।

छन्द १४३

बहुगुणसंपदसकलं परमतमपि मधुरवचनविन्यासकलम् ।
नयभक्त्यवतंसकलं तव देव ! मतं समन्तभद्रं सकलम् ।।१४३।।

अन्वयार्थ—**(हे देव !)** हे वीर जिन देव ! **(परमतं)** अन्य एकान्तवादियों का शासन **(मधुरवचनविन्यासकलम् अपि)** कर्णप्रिय वचनों के विन्यास से मनोज्ञ होता हुआ भी **(बहुगुण सम्पदसकलं)** अत्यधिक गुणरूप सम्पत्ति से विकल है परन्तु **(तव)** आपका **(मतं)** शासन **(नयभक्त्यवतंसकलं)** नैगमादि नयों से उत्पन्न स्यादस्तीत्यादि भङ्गरूप आभूषणों से मनोज्ञ है अथवा नयों की उपासनारूप कर्णाभरण को देने वाला है, **(समन्तभद्रं)** सब ओर से कल्याणकारक है और **(सकलं)** पूर्ण है ।

प्रभुदर्शन की समन्तभद्रता—कहते हैं कि नाथ ! जो तुम्हारे से विमुख लोग हैं, जो आप से बाह्य मंतव्य हैं, मत हैं ऐसे अन्य के मत चाहे बहुत गुणों में सम्पन्न हैं, तपश्चरण भी है, यम-नियम अनेक प्रकार के बहुत से गुणों

की भी बातें करते हैं तिस पर भी और वे मत बहुत मधुर वचनों का न्याय करने में, बहाने में, वितरण करने में एक उत्तम कला भी उन मतों ने प्राप्त की है तिस पर भी वे सब आजकल हैं, परिपूर्ण नहीं हैं, सब अधूरे हैं, पर आपका मत जो कि समंतभद्र है, समंत मायने चारों ओर से भद्र मायने कल्याणरूप है, ऐसा यह स्याद्वाद मत जो नय की सेवा के श्रृङ्गार से शोभायमान है ऐसा यह सब आपका मत सफल अर्थात् परिपूर्ण है । जो आपके बताये हुए मार्ग के अनुसार चलता है, आपकी बतायी हुई विधि से वस्तु के स्वरूप की जानकारी बनाता है, उसको फिर कहीं विफलता नहीं है । झट जरा दृष्टि की और सारे संकटों को दूर कर लिया । ऐसे हे प्रभु ! आपकी दिव्यवाणी का ही यह सब चमत्कार है, जो आज भी जगत् के बुद्धिमान जन धर्मकार्य में, धर्मसेवा में लगे हुए हैं ।

छन्द १४४

यो निःशेषजिनोक्तधर्मविषयः श्रीगौतमाद्यैः कृतः ।
सुक्तार्थैरमलैः स्तवोऽयमसमः स्वल्पैः प्रसन्नैः पदैः ।।
सद्व्याख्यानमदो यथावगमतः किञ्चित्कृतं लेशतः ।
स्थेयाच्चन्द्रदिवाकरावधिं बुधप्रह्लादिचेतस्यलम् ।।१४४।।

यावच्चन्द्रदिवाकर प्रभुस्तुतिप्रवाह की भावना—कहते हैं कि स्तवन का प्रवाह यह गौतम आदिक के द्वारा कहे हुए तत्त्व का विषय करने वाला है, ऐसा स्तवन गौतम आदिक ने किया है बहुत उत्तम, जिसकी बराबरी कोई कर ही नहीं सकता याने गणधरदेव भगवान का स्तवन करें, उनकी तुलना का कोई स्तवन कर सकता है क्या? चार ज्ञानों के धारी भगवान के मुख्य सेवक, अतुल भक्तिवान गौतम आदिक गणधरों के द्वारा बहुत ही सुन्दर वचन, निर्दोष वचन, निर्दोष अर्थ से सहित अनुपम स्तवन किया गया है, सो वह भी स्वल्प अक्षरों में था, मगर प्रसन्न पदों से था । आज भी जो प्राकृत भाषा के अन्य हैं अथवा और प्राचीन हों उनमें वे पद मौजूद हैं जिन पदों को गणधरदेव मुख से उच्चारण किया करते थे । अब यह कुछ समझ नहीं बनती कि इन शब्दों का उच्चारण गणधरदेव भी कर थे । यह व्याख्यान इस ही शब्द से गौतम आदिक प्रभु ने भी किया । यह विशेष छंटनी नहीं हो पाती, फिर भी पुराने आचार्यों ने संकेत दिया अनेक जगह कि ऐसा व्याख्यान गौतम स्वयं अपने मुख से करते थे । वह पद स्वल्प था और प्रसन्न निर्दोष था, लेकिन जितना हम जानते हैं, समझे हैं उसके द्वारा जाना गया है उसका यह व्याख्यान किया गया है मेरे द्वारा । सो बस यही बहुत कि बुद्धिमान् जनों के हर्षित हृदय में ये चन्द्र-दिवाकर पर्यन्त उनके हृदय में ठहरे अर्थात् चन्द्र-दिवाकर कब नष्ट होते हैं? कहते हैं कि जब तक सूर्य-चन्द्र रहें, तो क्या उसकी कोई अवधि है? अर्थात् सदा यह भाव, यह शब्द बुद्धिमानों के उत्तम चित्त में स्थित रहे । इस तरह यह बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र समाप्त हुआ ।